परम पुरुष पूरन धनी महाराज साहब

की अंग्रेज़ी पुस्तक

डिस्कोरसेज़ ऑन राधास्वामी फ़ेथ

का

अनुवाद

राधास्वामी मत पर प्रवचन

अनुवादक

संतदास माहेश्वरी *एम. एस-सी.*

पर्सनल असिस्टेंट टू बाबूजी महाराज

स्वामी बाग़, आगरा, २८२००५

सूचीपत्र

परम पुरुष पूरन धनी बाबूजी महाराज द्वारा
लिखाई हुई भूमिका का अनुवाद 1
परम पुरुष पूरन धनी महाराज साहब की बिनती 11

प्रवचन महाराज साहब

भाग १

सत्य धर्म, उसका उद्देश्य और दशा जिसमें वह उद्देश्य प्राप्त हो सकता है 17

प्रकरण संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
१	पूर्व वक्तव्य	17
२	धर्म का उद्देश्य	18
३	सुख दुख की दशाओं की मीमांसा करने की आवश्यकता	19
४	ज्ञानवाह धार	19
५	दुख की परिभाषा	20
६	सुख की परिभाषा	22
७	परम आनन्द की अवस्था	24
८	सुरत की चैतन्य शक्ति का विकास	24
९	मन और सुरत का भेद	25
१०	प्रेतात्माएं	26
११	चैतन्य शक्ति का तथाकथित प्राकृतिक शक्तियों से भिन्नत्व	27
१२	प्राचीनों के पाँच तत्व	32
१३	सुरत, आदि शक्ति	32
१४	सुरत का निज भंडार	35
१५	धर्म के उद्देश्य का नज़र आना	36
१६	सुरत और उसका स्रोत	36
१७	मनुष्य जीवन के मुख्य तीन अंग	38
१८	मानवीय शरीर के छः उप विभाग	39

प्रकरण संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
१९	ज्ञान और गति वाह धाराएँ	40
२०	ब्रह्मांडी मन और उसके छः उप-विभाग	42
२१	निर्मल चैतन्य देश	46
२२	मनुष्य शरीर और कुल रचना में परस्पर अनुरूपता और समागम	48
२३	मस्तिष्क और उसके व्यापार	50
२४	मस्तिष्क और उसके रन्ध्र	53
२५	अभ्यास करने से चेतनता बढ़ती है	53

भाग २

सुरत चैतन्य के जगाने, बढ़ाने और चढ़ाने की रीतियाँ

		55
२६	रूहानी तरक़्क़ी यानी सुरत चैतन्य को जगाना वा बढ़ाना	55
२७	श्रवण, दृष्टि और वाणी— जीवित रहने के लिए परम आवश्यक गुण	56
२८	त्रिविधि परिमाणयुक्त भिन्न २ लोकों की अपनी २ रचना करने वाली शक्ति भिन्न २ है जिसका अपना प्रभाव अपने ही मंडल तक सीमित है, उसका अतिक्रमण नहीं होता	57
२९	शब्द, वाच्य है उस शक्ति का जिससे कि वह पैदा होता है	58
३०	चैतन्य शब्द की गति की दिशा हमेशा अंतरमुख होती है	60
३१	ध्यान की प्रचलित विधियाँ शुद्ध रूप से आध्यात्मिक नहीं हैं	61
३२	मन के सर्व भावों की छाया चेहरे पर पड़ती है	61
३३	चेहरे पर अंकित भावों को देख कर देखने वाले में भी वैसे ही भाव उत्पन्न होते हैं	62
३४	पहुँचे हुए पुरुषों की श्रेणियाँ	62
३५	आध्यात्मिक ध्यान	63
३६	प्रत्येक वर्ग के आचार्यों की चार श्रेणियां	66
३७	आचार्यों की अलौकिक शक्तियाँ	66
३८	चमत्कार या करामातें और उनके लक्षण	67
३९	उच्च कोटि की आध्यात्मिक शक्तियों को प्रयोग में लाने के नियम	68
४०	चमत्कारों में भेद	70

प्रकरण संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
४१	पैग़म्बरों और गतिवान् पुरुषों की प्रतिष्ठा में हानि	71
४२	आश्चर्य व चमत्कारों के अधिक प्रचलित रूप	71
४३	गतिवान् पुरुषों और अवतारों में भेद	73
४४	अवतारों की व्याख्या	73
४५	अवतार का होना अमित उपकार का हेतु है	74
४६	प्रतिभावान पुरुष ही समस्त ज्ञान व जीवन के सुख साधन के मूल स्रोत हैं	75
४७	पैग़म्बर और अवतार संपूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान के स्रोत	76
४८	खोज और अनुसंधान की नई प्रवृत्ति	77
४९	प्रचलित धर्मों के अवतार और पैग़म्बरों का उद्भव	78
५०	वर्तमान धर्मों के अवतार और पैग़म्बर जिस जिस स्थान से आए, उसका प्रमाण	79
५१	आध्यात्मिक पुनरुद्धार	81
५२	अवतारों के आने के पूर्व आंतरिक रहस्यों का आंशिक उद्घाटन	81
५३	संतो के उपदेश सब समान और एक से हैं	82
५४	राधास्वामी दयाल का आगमन	83
५५	परमार्थ कमाने के लिए जीते जागते वक्त गुरू की ज़रूरत	84
५६	गुरू महाराज के तत्वाधान में नियम से सतसंग	88
५७	स्पर्श द्वारा पवित्र की हुई वस्तुओं का वितरण	90
५८	परशादी, चरनामृत, आरती और मत्था टेकना	91
५९	मंत्रों का उच्चारण	94
६०	पवित्र नामों के सुमिरन के सिद्धांत की व्याख्या	95
६१	अभ्यास की जुक्तियों का मुख्य उद्देश्य एक ही है	98
६२	मंत्रों और पवित्र चैतन्य नामों में भेद	99
६३	चैतन्य शक्ति का स्वरूप	99
६४	चेतनता के भंडार और धारों से निकलने वाले शब्दों में स्पष्ट पृथकत्व	101
६५	सर्वश्रेष्ठ या निज नाम 'राधास्वामी' की व्याख्या	103
६६	'राधा' और 'स्वामी' शब्दों के अनुक्रमण का कारण	103
६७	'राधास्वामी' नाम के अलग-अलग अंगों की व्याख्या	104
६८	रूपों की आदि	107
६९	आदि रूप	108
७०	शब्द जो चैतन्य भंडार में प्रथम हिलोर के साथ हुआ	108

प्रकरण संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
७१	सर्वश्रेष्ठ नाम 'राधास्वामी' की ओर कबीर साहब द्वारा संकेत	110
७२	तीनों अभ्यास विधियों की सफलता का अलग-अलग परिचय	110
७३	बीच की अवधि अर्थात् एक संत सतगुरु के अंतर्द्धान होने और दूसरे के प्रकट होने के बीच की अवधि में किसका ध्यान करना चाहिए	111
७४	अभ्यास की ठीक-ठीक विधियाँ गुप्त रक्खी जाती हैं	112
७५	सांसारिक रहनी गहनी, राग द्वेष और वासनाओं का अभ्यास पर असर	113

भाग ३

रचना का प्रकटन

अर्थात्

रचना का सच्चा प्रादुर्भाव, व्यवस्था और अभिप्राय 114

७६	रचना से पूर्व की अवस्था	114
७७	आदि शक्ति में ध्रुवों का विभेदन	115
७८	परम पुरुष में शाश्वत् ध्रुवीकरण	116
७९	दो ध्रुव	116
८०	उस असीम समूहवान् ध्रुव का विभ्राजमान प्रकाशपुंज अनिर्वचनीय है	117
८१	नीचे का ध्रुव रचना का आदिम स्थान है	118
८२	आंतरिक अनुभव भ्रम नहीं है	119
८३	सघन ध्रुव विरल ध्रुव से विभिन्न	120
८४	आदि में सुरतों की उत्पत्ति	121
८५	आदि धार निकलने से पहले आदि भंडार में वेग उठा	123
८६	शब्द और सुरत की धारें	124
८७	निर्मल चैतन्य देश और उसके छः उप-विभाग	124
८८	निर्मल या शुद्ध चैतन्य देश के बासी	126
८९	अगम पुरुष, आदि चैतन्य धार का प्रथम केन्द्र और चन्द्र और सूर्य मंडलों का उत्पत्ति स्थान	127
९०	निर्मल चैतन्य देश के बाक़ी चार मंडलों की रचना	128
९१	महासुन्न, इसके सूक्ष्म छः उपविभाग	129

प्रकरण संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
९२	काल पुरुष और आद्या का निःसृत होना	130
९३	ब्रह्मांड के घटकावयवों की उत्पत्ति तथा छः उप-विभाग	132
९४	ब्रह्मांड की चैतन्यता और वहाँ के अधिवासी	136
९५	चैतन्य देशों के अधिवासी	137
९६	तन्मात्रा, द्रव्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म कण	137
९७	तत्वों की तन्मात्रा, रूपों की बनावट, ज्ञानेन्द्रियों के कार्य	138
९८	कोई कोई वायु और पदार्थ में गंध और स्वाद न होने का कारण	140
९९	श्रवण-शक्ति दृष्टि की शक्ति की अपेक्षा सूक्ष्मतर है	141
१००	इन्द्रियों का क्रमिक विकास	144
१०१	ब्रह्मांड के नीचे का मैदान, ब्रह्मांड और पिंड का कक्षा में परिक्रमा करना	144
१०२	गुणों के प्रकृतियों के साथ परस्पर व आपस में नाना प्रकार से मिलने से चौरासी धारें बनीं	145
१०३	पिंड देश में चार खान की रचना	146
१०४	पिंड के छः उप विभाग और उनके धनी	147
१०५	पिंड देश के अधिवासी	149
१०६	नरक और वहाँ के अधिवासी	151
१०७	रचना के तीनों बड़े विभागों की सर्व सामान्य व्यवस्था	152
१०८	महा-प्रलय और प्रलय	154
१०९	मनुष्य के अतिरिक्त अन्य अधिवासियों की बनावट	154
११०	ब्रह्म और कुल-मालिक के अवतार	156
१११	मनुष्य की बनावट, एक पूर्ण लघु-विश्व, आध्यात्मिक उन्नति के लिये अनुकूल	158
११२	पृथ्वी पर मनुष्य और मनुष्येतर जाति के जीवों की यात्रा	160
११३	जन्म से पहले सुरतों की अवस्था	162
११४	मनुष्य की मृत्यु, उसका क्रम और रीति	164
११५	निम्न श्रेणी के जीवों की मृत्यु क्रिया	166
११६	मनुष्य चोला पाने वाले जीवों की मृत्यु क्रिया	167
११७	सुरत शक्ति और प्राकृतिक शक्तियों में द्वन्द	167
११८	आवागमन, उसके लक्षण और कार्य क्षेत्र	168
११९	जीवन की चार अवस्थाएँ	170
१२०	जीवन की चार अवस्थाओं का रचना में सादृश्य	172
१२१	चार युग, पहले तीन युगों में जीवन और प्रकृति की मनोरम अवस्था	172

प्रकरण संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
१२२	कलियुग, उसके कष्ट तथा यही समय उद्धार का है	174
१२३	रचना की विभिन्नता का मूल	176
१२४	रचना का दयामय उद्देश्य	180

भाग ४

कर्म अर्थात् मनुष्यों द्वारा किए हुए कर्म तथा उन पर घटित परिणाम अथवा कर्म और कर्मफल 185

१२५	रचना में दंड विधान, उससे लाभ	185
१२६	जीव पर पड़ने वाले संस्कार और उनके रक्षण की रीति	186
१२७	मनाकाश, उसके कार्य	187
१२८	संस्कारों के पुनःस्मृति के नियम	188
	परिशिष्ट क—राधास्वामी मत पर एक संक्षिप्त दृष्टि	189
	परिशिष्ट ख—राधास्वामी मत का संक्षिप्त विवरण	192
	परिशिष्ट ग—राधास्वामी मत पर एक संक्षिप्त लेख	196
	परिशिष्ट घ—विषयानुक्रमणिका	198
	परिशिष्ट प—कठिन शब्दों के अर्थ	217

परम पुरुष पूरन धनी बाबूजी महाराज
द्वारा लिखाई हुई
भूमिका का अनुवाद

१. राधास्वामी मत के अनुयायी इस पुस्तक को जिसका अंग्रेज़ी नाम "डिस्कोरसेज़ ऑन राधास्वामी फ़ेथ" है, अपने मत की एक पवित्र और प्रामाणिक पुस्तक मानते हैं। इसके रचयिता पंडित ब्रह्मशंकर मिश्र जिनको "महाराज साहब" कहते थे, राधास्वामी मत की मूल गद्दी के तृतीय गुरु अथवा आचार्य थे। आपका जन्म वाराणसी के एक बुद्धिशाली और प्रतिष्ठित ब्राह्मण कुल में २८ मार्च सन् १८६१ ई. को हुआ। आपके पिता क्वीन्स कॉलेज वाराणसी में संस्कृत के प्रोफेसर थे। आप स्वयं, चारों भाइयों में जो कलकत्ता विश्व विद्यालय के एम.ए.थे, सबसे छोटे थे और फरवरी सन् १८८४ ई. में एम.एम. पास हुए थे। गहरी धार्मिक मनोवृत्ति तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए स्वतंत्र तथा उदार चित्तवृत्ति का इस घराने में अभाव नहीं था। यह बात इससे स्पष्ट है कि आपके पिता ने जिनके परिवार के लोग जौनपुर से आकर वाराणसी में रहने लगे थे, कट्टर अपरिवर्तनवादी सनातनी ब्राह्मण वंश में होते हुए भी बिना किसी प्रकार की झिझक व डर के पटना के एक प्रसिद्ध मुसलमान महात्मा को अपना गुरु धारण किया और उनके घरवालों का आपके यहाँ सदैव आदर और अतिथि सत्कार होता रहा।

२. सन् १८८४ ईसवी में पढ़ाई समाप्त करने के पश्चात् महाराज साहब ने कानून पढ़ना शुरू किया, पर शीघ्र ही आपको लगा

कि यह पेशा ठीक नहीं। इसलिये उसको बिलकुल छोड़ दिया। उसके बाद थोड़े दिन तक बरेली कॉलेज में अध्यापक रहे। इसी बीच में आपको अपने एक मित्र और सहपाठी के ज़रिये अति उदात्त राधास्वामी मत के परम पूज्य संस्थापक स्वामीजी महाराज के "सार बचन बार्तिक" की एक पुस्तक हाथ लगी जो लगभग उसी समय पहले पहल छप कर प्रकाशित हुई थी। पुस्तक के प्रथम ही अवलोकन का आप पर जो असाधारण और अद्भुत प्रभाव पड़ा, उसको सिवा आपके घनिष्ठ मित्रों और साथियों के किसी ने न जाना; यद्यपि इसके पूर्व की आपकी साधारण रहनी गहनी से आपकी गुप्त असाधारण उच्च कोटि की आध्यात्मिक योग्यता का पहले कोई आभास नहीं मिलता था। यकायक आपमें सत्य का अभ्युदय हुआ और तब से अपने भावी गुरु से मिलने की गहरी और तीव्र अभिलाषा के अतिरिक्त आपके मन में और कोई प्रबल इच्छा नहीं रह गई। यह अभिलाषा जल्द पूरी हुई।

३.नवम्बर सन् १८८५ में वाराणसी में आपको अपने आगामी गुरु, हुज़ूर महाराज, राय सालिग्राम साहब बहादुर, के दर्शन मिले। वे उस समय पश्चिमोत्तर प्रांत के पोस्ट मास्टर जनरल के पद पर प्रतिष्ठित थे और वहाँ सरकारी दौरे पर आए हुए थे। हुज़ूर महाराज जहाँ दौरे पर जाते थे, वहाँ मामूली तौर पर दो तीन दिन ठहरते थे। मगर इस मौके पर आपकी आँखें दुखने आ गई जिसके कारण, तथा महाराज साहब की अलौकिक पारमार्थिक उत्सुकता के कारण भी, आपको दस रोज़ तक वाराणसी ठहरना पड़ा। इस अर्से में हुज़ूर महाराज ने महाराज साहब को राधास्वामी मत का उपेदश दिया। जो एक कसरती पहलवान थे, उनका एकाएक अपने गुरु का दीन अधीन गुलाम दास हो जाना तथा अपने प्रीतम-प्यारे-प्रभु के विरह में सिमट कर गहरे शोक भरे करुण स्वर में और कभी कभी अत्यंत हर्ष और आनन्द में विभोर होकर पवित्र बानी में से प्रेम मय शब्दों का पाठ करना, केवल परमार्थी जनों के ही देखने के योग्य एक दृश्य था। अपने गुरु से मिलने के बाद आपकी तबियत में एक गहरा आमूल परिवर्तन हो गया जिसने आपको दुनिया व उसके सब संबंधों और

बंधनों से बिल्कुल अलग कर दिया। सिवा ऊपरी संक्षिप्त व्यवहार के किसी से और कोई संबंध न रहा और सब लोग सर्वथा अपरिचित से हो गए। सांसारिक संबंधों से तिनका तोड़ दिया और उनकी जगह दिल में अपने प्रीतम-प्यारे-प्रभु के प्रेम ने घर कर लिया। फिर केवल उसी के प्रकाश से आपकी आगे की परमार्थी यात्रा का पथ प्रदर्शन होने लगा।

४. उपदेश लेने बाद महाराज साहब ने बिल्कुल सहज स्वभाव से, बिना किसी किस्म के दिखावे के, दुनिया के सारे भोग विलासों से मन हटा लिया और अपने पहले के मित्रों और साथियों से मिलना जुलना बंद कर दिया। खान पान और वेश भूषा आपका निहायत सादा से सादा था और आहार भी बहुत कम कर दिया था।

५. तारीख २६ अप्रैल सन् १८८६ ई. को आपने नियमित रूप से सरकारी नौकरी कर ली और इलाहाबाद में अकाउन्टेंट जनरल के दफ्तर में ऊंची श्रेणी के क्लर्क के पद पर काम करने लगे। उस समय एम.ए.पास को ऊंचे दर्जे की नौकरी मिलना जिसमें वेतन ज्यादा हो और आइन्दा तरक्की की उम्मीद भी अच्छी हो, मुश्किल नहीं था। मगर आपने खास तौर से यह अपेक्षाकृत कम तनखवाह वाली नौकरी पसंद की क्योंकि इस जगह पर रह कर अपने गुरु से आगरे या इलाहाबाद में सहूलियत से मिल सकते थे। गुरु महाराज की सेवा में हाज़िर रहने की इच्छा इतनी प्रबल रहती थी कि शायद ही कभी कोई ऐसी छुट्टी निकली हो जिसको आगरे में जहाँ कि आपके गुरु महाराज अधिकतर विराजमान रहते थे, न बिताई हो; यहाँ तक कि इस हेतु रविवार की छुट्टी के दिनों का भी आपने लाभ उठाया।

६. फरवरी सन् १८८७ में हुज़ूर महाराज ने पेन्शन लेने का निश्चय किया और अपने उत्तराधिकारी को कार्य-भार सौंपने के लिए इलाहाबाद तशरीफ़ ले गए। इस मौके पर हुजूर महाराज को इलाहाबाद में मामूल से ज्यादा ठहरना पड़ा जिससे महाराज साहब को लगातार दस रोज़ से अधिक आपकी सेवा में हाज़िर रहने का अवसर प्राप्त हुआ। इससे हुज़ूर महाराज के संग रहने की इच्छा और बलवती हो उठी। मगर इलाहाबाद में नौकरी होने की वजह से यह इच्छा

पूरी न हो सकी। अधिक दिन न होने पाए थे कि महाराज साहब को बड़ी बुरी पेचिश हो गई जिसके इलाज़ और आराम के लिए छुट्टी लेकर अपनी जन्म-भूमि वाराणसी जाने की ज़रूरत हुई। कुछ अर्से बाद अंत में बीमारी तो जाती रही, मगर महाराज साहब इतने कमजोर हो गए कि करीब एक वर्ष तक दफ्तर से गैरहाज़िर रहना पड़ा। इस छुट्टी का अधिकांश भाग आगरे में हुज़ूर महाराज की हाज़िरी में गुजारा। बीच-बीच में अपनी माताजी की सख्त बीमारी के कारण वाराणसी जाते रहे। उसी बीमारी में ही आखिरकार वह चल बसीं।

७.पेचिश की सख्त बीमारी के बाद जब महाराज साहब आगरे में रहे, तब खुराक सिर्फ़ चंद ग्रासों की जो भोग के वक्त हुजूर महाराज बख्शते थे, रह गई थी। सन् १८८८ ई. में छुट्टी समाप्त होने पर इलाहाबाद नौकरी पर चले गए। उस वक़्त आपका खाना मामूली तौर पर सुबह एक प्याला चाय व ज़रा सी खिचड़ी का था। खाना बहुत कम कर देने पर भी कोई विशेष चिन्ह कमज़ोरी का दिखलाई नहीं देता था। दफ्तर का काम बहुत सुन्दरता और योग्यता से करते रहे।

८. उस समय दफ्तर में जो काम महाराज साहब के सुपुर्द था, वह इस किस्म का न था कि आला अफसरों का विशेष ध्यान उस ओर आकर्षित होता। इस कारण कई वर्ष तक अपेक्षाकृत कम तनख्वाह ही की जगह पर पूर्ण संतोष के साथ काम करते रहे। तदनंतर हाकिमों का ध्यान आपकी असाधारण योग्यता की ओर गया व उसे मान्य किया जिसके फलस्वरूप अविलम्ब तरक़्क़ी मिली। सदर मुक़ाम से बाहर जिम्मेदारी के काम अंजाम देने के लिए आप ही खास तौर पर चुने जाते थे, जैसे अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए सरकारी खर्चे के हिसाब का मुआयना और जाँच, बलिया में खजाने के हिसाबों को व्यवस्थित करना, इत्यादि। केवल अपनी काबलियत के जोर से आप अकाउटेंडेन्ट जनरल के दफ्तर में आखिरकार चीफ सुपरिटेंडेन्ट के ओहदे पर पहुँचे।

९. जब अपने गुरु महाराज से अलग इलाहाबाद में रहते, तब अपने बचत का पूर्ण समय सतसंग कराने और अन्तरमुख अभ्यास में व्यतीत करते थे। सतसंग में अक्सर अपने साथी संगियों के सामने

परमार्थी बातों पर प्रकाश डालने के लिए जो बचन फरमाया करते थे, उनके बड़े गहरे व ऊंचे घाट से प्रेरित होने के अचूक चिन्ह साफ मालूम होते थे। सुनने वाले आपके गूढ़ आध्यात्मिक तत्वों के निरूपण से तथा उनकी गहरी आध्यात्मिक प्रकृति से चकित हो जाते थे। अपने गुरु की मौजूदगी में ही आप उनके उत्तराधिकारी जान पड़ते थे।

१०. सन् १८९८ ईसवीं में आपके गुरु महाराज के अंतर्द्धान हो जाने पर लोग आपके पास पारमार्थिक हिदायत लेने के लिए बहुत बड़ी संख्या में आने लगे। सन् १९०० ई. से आगे तो इस हेतु इलाहाबाद जाने वालों का प्रवाह दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा। दिन में दो बार और अक्सर तीन बार सतसंग होने लगा जिसमें उपस्थित स्त्री पुरुषों की संख्या तीन सौ से लेकर खास मौकों पर सात आठ सौ तक हो जाया करती थी। करीब करीब हर सतसंग में बचन फरमाते थे जिनकी शोहरत दूर दूर क्षेत्रों तक फैल गई। परमार्थी और अंतरी भेद की गूढ़तम बातों की व्याख्या बिल्कुल ठीक वैज्ञानिक ढंग से की जाती थी। बचनों के अलौकिक प्रवाह व उत्तम भाषण शक्ति और प्रवचनों की अकाट्य युक्तियों से प्रभावित होकर श्रोतागण जिनमें अधिकांश शिक्षित समाज के लोग होते थे, मंत्र-मुग्ध रह जाते थे। सुनने वाले निमग्न चित्त हो अत्यन्त श्रद्धा से बचन सुनते थे। सहस्रों नए नर नारी आपसे उपदेश लेकर राधास्वामी मत में शामिल हुए।

११. सन् १९०५ ई. में महाराज साहब राज के हिसाबों की सुव्यवस्था तथा उनकी जाँच करने के लिए डुमराँव तशरीफ ले गए। वहाँ तेज मलेरिया बुखार आ गया जिससे आप अंत तक बिल्कुल मुक्त न हो सके। स्वास्थ्य गिर जाने के कारण बाध्य होकर सितम्बर सन् १९०६ में लम्बी छुट्टी लेनी पड़ी। तारीख १२ अक्टोबर सन् १९०६ को स्वास्थ्य लाभ के लिए कराची पधारे। वहाँ और हैदराबाद (सिंध) में करीब ढाई महीने रहे मगर स्वास्थ्य में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ।

१२. कराँची और हैदराबाद में अत्यन्त उमंग उत्साह से आपका स्वागत किया गया। प्रत्येक स्थान में सतसंग के लिए विशेष प्रकार

के बड़े पंडाल बनवाए गए थे जो इतने ठसाठस भर जाते थे कि उनमें तिल रखने को भी जगह न बचती थी। हजार से लेकर डेढ़ हजार तक सतसंग के लिये लोग उपस्थित होते थे। स्वास्थ्य अच्छा न होते हुए भी आप सुबह शाम दोनों समय सतसंग में दो दो घंटे बल्कि इससे भी अधिक समय तक बचन फरमाया करते थे। बचन तो ऐसे होते कि सुनने वालों के मन में तनिक संदेह की गुंजाइश न रह जाती, पूर्ण रूप से प्रतीत आ जाती थी। श्रोतागण बचन सुनकर दंग रह जाते और गदगद हो उनके हृदय प्रशंसा से भर जाते थे।

१३. सन् १९०६ ईसवी के अन्त के करीब अपने सबसे बड़े भाई की सख्त बीमारी की वजह से आपको किसी क़दर जल्द वाराणसी लौट आना पड़ा। उसी बीमारी में भाई साहब का चोला छूट गया। छुट्टी में ही सन् १९०७ ईसवी के शुरू में स्थायी रूप से वाराणसी चले गए।

१४. वाराणसी पधारने के थोड़े ही दिनों बाद, स्वास्थ्य ठीक न रहते हुए भी महाराज साहब ने इस पुस्तक को लिखाना शुरू किया। जो जो अंश साफ लिख लिए जाते थे, वे महाराज साहब को फिर से सुनाए जाते। महाराज साहब कभी कभी, पर बहुत कम, उनमें हेरफेर किया करते थे, वह भी अपने कर कमलों से ही। यह क्रम करीब करीब सितम्बर महीने के शुरू तक चलता रहा, यद्यपि बीच बीच में कई बार स्वास्थ्य के ठीक न होने के कारण रोक देना पड़ता था। बाद में बीमारी बढ़ जाने से किताब का लिखाना जो अभी अपूर्ण थी तथा उसका दुहराना बिल्कुल बंद कर देना पड़ा। मगर वर्तमान स्वरूप में भी यह पुस्तक सतसंगियों के लिये एक खास महत्व और क़दर की चीज है। उनकी दृष्टि में यह एक अमूल्य निधि है। अपने अनुयायियों को बहुत निराश व दुःख में छोड़, आप तारीख १२ अक्टूबर सन् १९०७ ईसवी को निज धाम सिधारे।

१५. राधास्वामी मत के उपदेश और सिद्धांत तर्कपूर्ण और प्रतीतजनक ढंग से समझाने के लिए इस पुस्तक का मुख्यतया सृजन हुआ है। यह सब के लिए समान रूप से लाभदायक है, मगर खास तौर पर उन भारतवासियों के लिये लिखी गई है जिनकी तालीम पश्चिमी ढंग से हुई है और प्रचलित मायिक शिक्षा प्रणाली से जिनमें

परमार्थ की ओर श्रद्धा और उसकी आवश्यकता की भावना घटने लगी है। इस पुस्तक का निर्माण पश्चिमी देशवासियों के लिये भी हुआ है जिनकी शिक्षा और जिनका सोचने विचारने का ढंग आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली पर आधारित है। यही कारण है कि पुस्तक का विषय-क्रम, परमार्थ का लक्ष्य, सृष्टि मीमांसा, सृष्टि क्रिया, उसकी व्यवस्था, रचना का उपकार हेतुक अभिप्राय, पाश्चात्य शिक्षा पद्धति की वैज्ञानिक तर्क वितर्क विधि के अनुकूल रक्खा गया है और सूक्ष्म वैज्ञानिक ढंग से तथा अबाधित और अकाट्य प्रमाणों से युक्त उनका प्रतिपादन किया गया है। यह बात माननी पड़ेगी कि प्राचीन मृतप्राय धर्मों के साथ-साथ जो अंधविश्वासों और निरर्थक बातों का अंबार इकट्ठा हो गया था, उसका पाश्चात्य शिक्षा ने अंत करके आधुनिक संसार के शिक्षितों और विद्वानों का एक प्रकार से उपकार किया है। साथ ही साथ यहाँ यह कह देना भी जरूरी है कि राधास्वामी मत के उपदेशों और सिद्धांतों को केवल बौद्धिक और तार्किक आधार पर मान लेना अधिक लाभप्रद न होगा, यद्यपि नवीन मतानुयायियों के लिये प्रारम्भ में यह बौद्धिक समाधान ही जरूरी है जिससे कि वे दत्त चित्त होकर धर्म विषय का अनुशीलन कर सकें और मत में बतलाये हुए अभ्यासों की विधि पूर्वक कमाई कर सकें। इसके विरुद्ध यदि सांसारिक कार्य कुशलता, विद्वत्ता, साहित्यिक तथा दार्शनिक प्रवीणता अपना प्रभुत्व मन और बुद्धि पर जमा लें और उनको मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति में उचित से अधिक महत्व दिया जावे तो आध्यात्मिक उन्नति में वे निश्चय ही विघ्नकारक और बाधक होंगी। सच बात तो यह है कि असली परमार्थी समझबूझ और चेतनता तो तभी जागेगी जब पुस्तकीय ज्ञान, सांसारिक चतुरता और बौद्धिक शक्ति का जो विशेष महत्व सांसारिक व्यक्तियों में है, वह न रहे। राधास्वामी मत के अभ्यास बनने और उसमें सफलता प्राप्त होने के लिए वास्तव में पहली जरूरत सुरत के जगाने की है। इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि संत मत के प्रकट होने से पहले जितने मत हुए हैं उनमें जिस जौहर को आदि और अविनाशी कहा है, उन सबसे वह जिसको संतों ने 'सुरत'

कहा है, एक कतई अलग जौहर है जिसका भेद पहले पहल संतों ने दिया जो पिछले करीब सात सौ वर्ष से इस संसार में वक्त मुनासिब आने पर पधारने लगे। सबसे पहले संत कबीर साहब हुए जिनके बाद समय समय पर दूसरे संत आते रहे और अंत में परम पुरुष पूरन धनी राधास्वामी दयाल ने स्वामीजी महाराज के स्वरूप में अवतार लिया। दूसरी जरूरत यह है कि सुरत या रूह के भंडार यानी कुल मालिक के साथ जो उसकी ज़ाती पुरानी प्रीति या रूहानी रिश्ता है, वह प्रकाश में आने लगे यानी खुलने लगे। इस पुरानी प्रीति के जागने पर सुरत का महाप्रबल अंतरी आकर्षण और खिंचाव उसके भंडार की तरफ होने लगेगा जैसा कि मछली का जल के लिए और पतंग का दीपक की तरफ होता है। फर्क यह होगा कि पतंग व मछली की कशिश, दीपक व जल के लिए, जड़ होती है यानी अनजाने की और उनकी देह की खास किस्म की बनावट और मसाले के कारण से होती है, परन्तु सुरत का खिंचाव और आकर्षण अत्यंत सचेत और तीव्र बुद्धि सहित होता है। इसी से राधास्वामी मत में सार्वजनिक उपदेश व प्रचार को स्थान नहीं दिया गया है। उसी प्रकार बुद्धि का आधार लेकर या ऊंचे घाट के मन को जगा कर प्रकट की हुई नीति और धर्म हमेशा कायम नहीं रहते और जैसे तन व मन संबंधी सब चीजें नाशमान हैं, उसी तरह इन धर्मों और नीतियों का भी अंत हो जाता है। सच्चे और पूरे उद्धार के लिये तथा सुरत का स्वयं प्रकाशमान रूप झलकने व उसके सौन्दर्य पूर्ण आंतरिक स्वरूप के लक्षणों के प्रकट होने के लिए आध्यात्मिक जाग्रति का होना और सुरत की ऊंचे से ऊंचे चैतन्य देशों में चढ़ाई होना अनिवार्य है। थोड़े थोड़े अंतर से संतों के इस पृथ्वी पर चरण पधारने से जो आध्यात्मिक जागृति होती है, वह अवश्ययेव मनुष्य मात्र के उद्धार के लिये जारी रहेगी। यहाँ इस बात को कह देना जरूरी है कि राधास्वामी मत सर्वथा निराला मत है और उसका किसी मत से कोई मेल नहीं हो सकता। मगर साथ ही साथ वह कदापि न दूसरे मतों का विरोध करता और न उनके बीच हस्तक्षेप करता है अर्थात् वह परम सहिष्णु और अबाधक है।

१६. ये बातें केवल यह प्रकट करने के हेतु अंकित की गई हैं कि राधास्वामी मत के सच्चे अनुयायी में जो आवश्यक गुण होने चाहिए, वे सब महाराज साहब में मौजूद थे और पूरे पूरे चरितार्थ होते थे अर्थात् महाराज साहब स्वयं व्यक्तिगत रूप से आदर्श उदाहरण थे। जिन लोगों को उनके अंग संग रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ, उनको महाराज साहब के व्यक्तित्व ने जो अपार चैतन्यता से भरपूर था, नवीन चैतन्यता से भर दिया और उनमें परम पिता के चरनों के निकट पहुँचने की लालसा प्रज्वलित कर दी।

१७. महाराज साहब के समय की दो बातें विशेष उल्लेखनीय हैं। हुजूर महाराज के समय में सतसंगियों के कुछ वर्गों में अपनी अपनी अलग दल-बन्दी और कुछ लोगों में उस जायदाद के निस्बत जो उस समय तक सतसंग के अधिकार में आ गई थी, अपना हक व ताल्लुक प्रकट करने के लक्षण दिखाई देने लगे थे। फूट पैदा करने वाली प्रवृत्तियों की रोक थाम करने तथा एक गुरु के अंतर्द्धान होने और दूसरे के प्रकट होने के बीच के समय में जो कठिनाइयाँ पैदा हो सकती हैं, उनसे बचने के लिए और बिना किसी प्रकार की विघ्न बाधा के प्रबन्ध का क्रम जारी रखने के लिए हुजूर महाराज एक सभा या कमेटी बनाना चाहते थे जो स्थायी रूप से संत सतगुरु के आदेशानुसार सतसंग की सम्पत्ति का प्रबन्ध किया करे। वस्तुतः इस उद्देश्य से मोटे तौर पर एक योजना भी तैयार कर ली गई थी। परन्तु उसके मूर्त्त रूप धारण करने से पहले ही हुजूर महाराज अंतर्द्धान हो गए। सन् १९०२ ईसवीं में महाराज साहब ने बड़ी लग्न के साथ इस काम को हाथ में लिया। फलस्वरूप सदैव क्रियाशील सेन्ट्रल एडमिनिस्ट्रेटिव कौंसिल (केन्द्रीय व्यवस्थापक समिति)की स्थापना हुई। इस कौंसिल और इससे संबंधित व आधीन "राधास्वामी ट्रस्ट" की समिति का मुख्य स्थान स्वामीबाग आगरे में अवस्थित है। तरह तरह के पारमार्थिक दृष्टिकोण या विचार धारा वाले और तरह तरह की आकांक्षाओं से युक्त बहुत से जीवों के इकट्ठे होने पर दलबंदी और फूट पैदा होना अनिवार्य है। फिर भी उस मूल स्कंध रूपी प्राथमिक संस्था (जिससे छँट छँट कर समय समय पर शाखाएँ निकलीं) के संगठित एकत्व में

कोई फर्क नहीं आया क्योंकि वह संत-सतगुरु-वक्त की छत्र-छाया और सेन्ट्रल एडमिनिस्ट्रेटिव कौंसिल के संरक्षण में रहती चली आ रही है। उसी संस्था की संरक्षता में मत के संस्थापक के आद्य सिद्धांत और उपदेश ज्यों के त्यों अपने प्राथमिक विशुद्ध रूप में सुरक्षित चले आ रहे हैं। इस प्राथमिक संस्था में वही लोग शामिल हैं जिनके जीवन का यह ध्येय है कि जहाँ तक मुमकिन हो, सांसारिक वासनाओं से बच कर निर्मल परमार्थ की कार्रवाइयों में बिना किसी लाग और लपेट के लगे रहें। उनका उद्देश्य है कि सांसारिक कामकाजों में फँसाव कम से कम, केवल कार्यमात्र, रहे यानी कमोवेश सिर्फ उस हद तक कि जिसमें उनका और उनके कुटुम्ब का निर्वाह प्रतिष्ठा पूर्वक हो जावे और जब मौका मिले, गरीब और मोहताजों की मदद कर सकें।

१८. महाराज साहब के समय की दूसरी महत्व की बात यह है कि स्वामीबाग आगरा में मत के परम पूज्य संस्थापक की समाध बनाने का काम शुरू किया गया। इससे पहले समाध के रूप में एक छोटी सी इमारत बनी हुई थी। यह कार्य जिसको महाराज साहब ने शुरू किया था, अब बहुत बड़े पैमाने पर हो रहा है यानी स्वामी बाग आगरा, में अब एक विशाल भव्य समाध बन रही है। इसका कुल खर्च वही प्राथमिक संस्था उठा रही है जिसका प्रबंध जैसा कि ऊपर बयान हो चुका है, सेन्ट्रल एडमिनिस्ट्रेटिव कौंसिल स्वामी बाग आगरा के जिम्मे है।

परम पुरुष पूरन धनी महाराज साहब

की

बिनती

(१)

।। दोहा ।।

बार बार कर जोर कर, सविनय करूं पुकार ।
साध संग मोहिं देव नित, परम गुरू दातार ।।१।।
कृपा सिंधु समरथ पुरुष, आदि अनादि अपार ।
राधास्वामी परम पितु, मैं तुम सदा अधार ।।२।।

।। सोरठा ।।

बार बार बल जाउं, तन मन वारूं चरन पर ।
क्या मुख ले मैं गाउं, मेहर करी जस कृपा कर ।।३।।
धन्य धन्य गुरु देव, दया सिंधु पूरन धनी ।
नित्य करूं तुम सेव, अचल भक्ति मोहिं देव प्रभु ।।४।।
दीन अधीन अनाथ, हाथ गहा तुम आन कर ।
अब राखो नित साथ, दीन दयाल कृपानिधि ।।५।।
काम क्रोध मद लोभ, सब विधि अवगुणहार मैं ।
प्रभु राखो मेरी लाज, तुम द्वारे अब मैं पड़ा ।।६।।

राधास्वामी गुरु समरत्थ, तुम बिन और न दूसरा ।
अब करो दया परतक्ष, तुम दर एती विलँब क्यों ।। ७ ।।

।। दोहा ।।

दया करो मेरे साइयाँ, देओ प्रेम की दात ।
दुख सुख कछु व्यापे, नहीं, छूटे सब उत्पात ।। ८ ।।

(२)

।। चौपाई ।।

निज गुण भाट जगत बहुतेरे ।
पर गुण ग्राहक नर न घनेरे ।। १ ।।
जे छिन छिन निज गुण उच्चरहीं ।
समय परे पर कछु नहिं करहीं ।। २ ।।
ममता त्यागि करे जो करनी ।
सपने अहँग चित्त नहिं धरनी ।। ३ ।।
पर गुण जिन रवि उदय समाना ।
निज आचरण खद्योत निमाना ।। ४ ।।
सत्य साधु करनी तिन के री ।
ज्ञान मूर मय सुखद घनेरी ।। ५ ।।
शशि सम सीतल बैन सुबैनू ।
श्रवण परत उर पावत चैनू ।। ६ ।।
बड़े भाग अस साध सुसंगू ।
कलमल हरन मोह मद भंगू ।। ७ ।।
अविरल भक्ति प्रेम मन लावन ।
गुरु चरनन चित उमँग बढ़ावन ।। ८ ।।

(३)

।। दोहा ।।

बाचक ज्ञानी की सभा, जस खद्योत समाज ।
क्रोध लोभ हंकार मद, निन्दा निशि की साज ।। १ ।।

पक्षपात घन नीर कण, करत सदा आहार ।
पर परकाश कुशल नित, स्वयं घोर अंधकार ।। २ ।।

।। सोरठा ।।

सत्य ज्ञान रवि तेज, उदय होत हँग रहित सो ।
कृमिवत तुच्छ अतेज, कुटिल कुमति कुत्सित गए।। ३ ।।

।। चौपाई ।।

रूचे न भक्त जगत सुख कैसे ।
कामी बचन सती मन जैसे ।।४।।

प्रवचन महाराज साहब

राधास्वामी मत पर प्रवचन

भाग १

सत्य धर्म, उसका उद्देश्य और दशा
जिसमें वह उद्देश्य प्राप्त हो सकता है

प्रकरण १

पूर्व वक्तव्य

अनुच्छेद १—अत्यन्त बुद्धिमान वर्ग के लोगों में विशेष कर वैज्ञानिकों में, धर्म के प्रति जो बे-परवाही सी दिखलाई देती है, उसका कारण यह है कि धार्मिक विषयों पर संकीर्ण भावनाओं, रहस्यवादों व पुरानी टेक और पक्ष का थोड़ा या बहुत आवरण पड़ा रहता है, और जिस प्रकार वैज्ञानिक विषयों की यथार्थता की प्रत्यक्ष प्रयोगात्मक रूप से खोज की जाती है, उस तरह मज़हब के मामलों में छान बीन नहीं की जाती। इस लिये धर्म के विषय में वैज्ञानिक व व्यावहारिक ढंग की अभिरूचि पैदा करने के लिए आवश्यक है कि धार्मिक विषयों की खोज उसी पद्धति से की जाय जिससे वैज्ञानिक सत्य का अनुसंधान करते हैं यानी मज़हब और परमार्थ का उद्देश्य स्पष्ट रूप से सामने रखना चाहिये और उसकी प्राप्ति की

व्यावहारिक विधि बतलाना चाहिये। इस तरह के वैज्ञानिक धर्म के सिद्धांतों और प्रयोगों अथवा उपासना की अभ्यास-विधियों का अगले पृष्ठों में निरूपण किया गया है।

प्रकरण २

धर्म का उद्देश्य

अनुच्छेद २—प्राणिमात्र की कुल कार्रवाई और संकल्प विकल्प, सुख की प्राप्ति और दुख की निवृत्ति के हेतु होते हैं। उनके अनैच्छिक कामों और विचारों में भी अंतर्गत, कुछ अंश तक यही प्रवृत्ति पाई जाती है यानी जो दशा श्रेयकारक या श्रेयजनक हो उससे सहयोग करना, उसे अपना लेना या अंगीकार करना और जो इसके विपरीत हो, उसका विरोध करना या उससे हट जाना। यह एक साधारण नियम है। 'सुख' और 'दुख' शब्दों का उपयोग यहाँ और अन्यत्र अत्यंत व्यापक भाव में किया गया है जिसमें आगे और पीछे की सब हालतें शामिल हैं जिनका संबंध चाहे खुद से हो चाहे दूसरों से यानी 'सुख दुख' कहने से केवल निज का ही नहीं, बल्कि अन्य जीवों के सुख दुख से भी अभिप्राय है और उसमें भूत भविष्य और वर्तमान तीनों काल के सुख दुख आ जाते हैं।

३—अब स्पष्ट है कि वह हेतु जो उपर्युक्त प्रेरणा से उत्पन्न हुआ है, केवल उसी अवस्था में जाकर अंतिम विश्राम को प्राप्त होगा जिसमें न तो किसी किस्म का दुःख और न किसी किस्म का विरोध हो और जो परम आनन्द से भरपूर हो। अत्यंत विश्लेषणात्मक दृष्टि से धर्म का यही लक्ष्य ठहरता है।

४—चैतन्य शक्ति के नियमों का अनुशीलन, स्पष्ट तथा निश्चयात्मक रूप से कुल्ल कर्त्तार का बोध और रचना की व्यवस्था, उत्पत्ति और उसके अभिप्राय को समझना तथा जगत में सचेतन जीव का सच्चा कर्तव्य क्या है उसे जानना, धर्म के वैज्ञानिक रीति से अनुशीलन करने के अन्य लक्ष्य हैं।

प्रकरण ३

सुख दुख की दशाओं की मीमांसा करने की आवश्यकता

५—चूँकि परमार्थ का अंतिम लक्ष्य जैसा कि ऊपर बयान किया गया है, अत्यन्त आनन्दमय अवस्था का प्राप्त करना और दुख से पूर्ण निवृत्ति है, इसलिए सुख दुख विषयक दशाओं की मीमांसा करना आवश्यक प्रतीत होता है जिससे उनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और ऐसे उचित साधनों को चुनकर ग्रहण किया जावे कि जिनसे कथित लक्ष्य की प्राप्ति हो सके।

प्रकरण ४

ज्ञानवाह धार

६—यह रोज़मर्रा के तजरुबे की बात है कि जब जीव जाग्रत व प्रकृत अवस्था में होता है, तभी वह सुख दुख का अनुभव करता है। ज्योंही जीव, स्वप्न गहरी नींद या अर्द्ध मूर्च्छा की अवस्था में हुआ अथवा क्लोरोफार्म या शीशी सुँघा कर बे-होश कर दिया गया तो फिर सुख दुख का कोई ज्ञान नहीं होता, इसलिए यह साफ़ जाहिर है कि सुख दुख के ज्ञान का मुख्य कारण 'कोई ऐसी वस्तु' है जो जाग्रत अवस्था के, ऊपर बयान की हुई दूसरी अवस्थाओं में, परिणित होने पर सिमट जाती है या चेष्टा रहित हो जाती है। 'कोई ऐसी वस्तु' पारिभाषिक शब्दों में "ज्ञानवाह धार" कहलाती है। इसलिये सुख दुख के अनुभव के अनुशीलन में पहली सीढ़ी इसी धार की वास्तविकता को तथा उस रूप को जिसमें वह प्रकट होती है, समझना है।

७—प्रतिदिन घटित होने वाले एक ज्ञानवाह कार्य के निम्नांकित दृष्टांत की परीक्षा और विश्लेषण करने से ज्ञानवाह धार के सच्चे स्वरूप का बोध होगा और आशा की जाती है कि उसके वास्तविक स्वरूप और उसकी आन्तरिक क्रियाओं के संबंध में जो दुरूहता पाई जाती है, वह किसी अंश तक दूर होगी।

८—एक शख़्स गणित के किसी पेचीदा सवाल के निकालने में अत्यन्त संलग्न है। घंटों गुज़र जाते हैं, घड़ी के घंटे बजते हैं, मगर वक्त के बीतने और घंटे बजने की उसको कुछ ख़बर नहीं होती। इस बे-ख़बरी का कारण ढूँढने के लिए बहुत दूर जाने की जरूरत नहीं, वह आसानी से बतलाया जा सकता है। सवाल निकालने में ध्यान निमग्न हो जाने के कारण तवज्जह, और दूसरी तरफ से हट गयी जिसका नतीजा यह हुआ कि उधर से अन्य ज्ञानों का आना बंद हो गया, नहीं हो तो मामूली हालतों में वे अंतर में अपना असर जरूर पैदा करते। जो महान सत्य और विविध नियम उक्त स्पष्टीकरण के मूल में निहित हैं, अब तक उन्हें निश्चित स्वरूप प्रदान नहीं हुआ और न अन्य किसी भाँति से सूत्रों में वे प्रकट किए गए हैं।

९—ज्ञानवाह कार्य का मूल नियम यह विदित होता है कि वह अपने को ध्यान या अवधान के रूप में प्रकट करता है। ध्यान की एकाग्रता की न्यूनाधिकता से इस कार्य का बल घटता बढ़ता है और यदि ध्यान पूर्ण रूप से हटा दिया जावे तो वह बिल्कुल ग़ायब हो जायेगा। ध्यान या अवधान के अगणित भेद व अवस्थाएँ देखने में आती हैं और तदनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञानों की तीव्रता घटती बढ़ती रहती है। उपर्युक्त नियम सब प्रकार के प्रत्यक्ष व इन्द्रियजन्य ज्ञानों में एक रूप से लागू है।

१०—सब प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान मोटे तौर पर दो वर्गों यानी 'सुख' और 'दुख' में बाँटे जा सकते हैं। इनकी व्याख्या नीचे दी जा रही है जिससे उनके मुख्य स्वरूपों में क्या अंतर है, मालूम हो सकेगा।

प्रकरण ५

दुख की परिभाषा

११—दुख दो प्रकार का है, शारीरिक और मानसिक। हम पहले शारीरिक दुख की जाँच करेंगे। एक शख़्स को जो प्रकृत अवस्था में है, तलवार का घाव लग जाता है या देह में कोई और चोट

लग जाती है। जिस अंग पर चोट लगती है, वह या तो कुचल जाता है या कट जाता है और उस हिस्से की नाड़ियों पर भी जिनमें होकर ज्ञानवाह धार आती जाती है, इसी किस्म का असर पहुँचता है। इस अवस्था का विश्लेषण करने से प्रकट होता है कि ज्ञानवाह धार का कुछ अंश ज़बरदस्ती हटा दिया गया है और चोट लगे हुए हिस्से के आस पास की स्वस्थ ज्ञानवाह धारों द्वारा इस दशा का ज्ञान क्षेत्रज्ञ[1] तक पहुंचता है। इस दशा के ज्ञान को शारीरिक दुख कहते हैं। अगर हिपनाटिज्म (मोहन विद्या) के प्रयोग से या क्लोरोफार्म (शीशी) सुँघा कर ज्ञानवाह कार्य रोक दिया जावे जिससे कि कोई सुध बुध स्थूल शरीर की न रहे अर्थात् स्थूल शरीर की ओर से ध्यान बिल्कुल हट जावे तो उस समय चोट लगने की ख़बर जीव को नहीं पहुँच सकेगी और इसलिए उसे दुख का ज्ञान भी नहीं होगा। मानसिक दुख में यही अवस्था मानसिक संबंधों पर आघात पहुँचने से पैदा होती है। जिस प्रकार ज्ञानवाह धार शारीरिक दुख के ज्ञान प्राप्त होने में भाग लेती है उसी प्रकार मानसिक दुख में भी, अर्थात् मानसिक दुख का कारण भी ज्ञानवाह धार का हठात् निष्कासन ही है।

१२—ऊपर कहा जा चुका है कि ज्ञानवाह धार अपना इज़हार और कार्रवाई अवधान के ज़रिये करती है। इस संबंध में यह भी कहा जा सकता है कि स्वप्न अवस्था में भी जहाँ कि दृश्य बड़ी तेज़ी से बदलते रहते हैं, वे विविध अंतरी संस्कारों द्वारा ध्यान ही के बँट जाने का फल है। किन्हीं किन्हीं हालतों में बाहर शोरगुल इत्यादि से यकायक तवज्जह का रूख़ बदल जाने से नई नई और कभी कभी बहुत ही विचित्र और डरावनी शक्लें सामने आ जाती हैं।

१३—अगर ध्यान पूर्वक इन सब अवस्थाओं का विश्लेषण करके विचार किया जावे तो यह बात निस्संदेह सिद्ध हो जावेगी कि अन्दरूनी असरों में भी मुख्य वस्तु ध्यान ही है।

१४—यहाँ यह कहा जा सकता है कि शारीरिक दुःख के अनुभव को जीव तक पहुँचाने वाले ज्ञानतंतु हैं ; जबकि मानसिक

---

१ जीव जिसको ज्ञान पहुँचता है।

दुःख में जो संबंधों पर आघात पहुँचने के कारण होता है, संचालन कार्य केवल विचारों द्वारा ही होता है। ये विचार भी अवधान की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही विविध मानसिक रूप हैं जबकि वह भिन्न भिन्न मानसिक संस्कारों से सम्पर्क करता है। इन दोनों दशाओं की उपमा भली भाँति तार और बे-तार द्वारा समाचार भेजने की पद्धति से दी जा सकती है।

१५—जब जब मन को कोई धक्का या आघात पहुँचता है, तब तब हमेशा दिल की कोई न कोई इच्छा की अपूर्ति का अथवा किसी प्रिय वस्तु का जिसके साथ स्वाभाविक या अन्य प्रकार से मोह था, उसके वियोग होने का अथवा ऐसी वस्तुओं को चोट पहुँचने का या उनकी हानि होने का अनुभव पाया जाता है। इन सब हालतों में मानसिक संबंधों का ज़बरदस्ती तोड़फोड़ होता है या उनको धक्का लगता है और अवधान की धार, जिस निश्चित मार्ग से होकर कार्य करती थी वहाँ से उसका हटाव होने से मन के घाट पर प्रतिक्रिया करती है जिससे 'मानसिक दुःख' की घटना घटित होती है।

१६—ऊपर जो विश्लेषण किया गया है, उससे ज़ाहिर होता है कि दोनों प्रकार के दुःख प्रसंग का मुख्य कारण बलपूर्वक अवधान (तवज्जह) का हटा देना है। अतएव अत्यंत विस्तृत रूप में दुख की परिभाषा यह होगी—

> ज्ञानवाह धारों का कायिक और मानसिक घाटों से जहाँ कि वे व्यापक हो रही हैं, बलपूर्वक हटा देने से जीव को जो भान होता है, उसे 'दुःख' कहते हैं।

प्रकरण ६

सुख की परिभाषा

१७—चूँकि सुख की अवस्था दुख के बिपरीत प्रतीत होती है, इसलिये सुख की अवस्था में बजाय ज़बरदस्ती हट जाने के, ज्ञानवाह धार घनीभूत या एकत्रित होनी चाहिये। इस नतीजे की यथार्थता की जाँच निम्नलिखित प्रत्यक्ष उदाहरणों की परीक्षा से हो जावेगी।

१८—संपूर्ण ध्यान को अपने में अंतर्भूत करने वाले और आनन्दातिरेक की अवस्थाओं में मन को विभोर कर देने वाले संगीत का मोहक प्रभाव, अपने किसी मित्र या निकट संबंधी की यकायक सख्त बीमारी की खबर मिलने से या ध्यान को तुरन्त भंग कर देने वाली कोई असाधारण घटना से, फ़ौरन जाता रहता है। अगर उस ख़बर की तरफ फ़ौरन ध्यान न दिया जावे तो वही संगीत जिससे निहायत दर्जे का सरूर हासिल हो रहा था, दुःख और पीड़ा का कारण बन जाता है। इस तरह के बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनसे निस्संदेह मालूम हो जावे कि सब प्रकार के सुखों का मूल, चित्त या अवधान की एकाग्रता है। यही अभिरूचि को उत्पन्न करने वाली और आनन्द का सच्चा कारण है। इस सत्य को और भी स्पष्ट रूप से जाहिर करने के लिए निम्नांकित उदाहरण दिया जाता है। बच्चों के सहज भोले और अनुभव शून्य होने से उनके ध्यान का बिखेर उस तरह नहीं होता जैसा कि बड़ों का सांसारिक काम काज में अनेक प्रकार से लिप्त रहने से होता है। इसलिए कोई भी बात उनके चित्त को आकर्षित करने व जमाने के लिए काफी है, और यही चित्त की एकाग्रता बचपन के निष्कपट और सहज प्रमोद का कारण है। तरह तरह के बुद्धि के खेल जिनमें स्वयं कोई चित्ताकर्षक बात नहीं होती, मगर चूँकि उनसे खेलने में चित्त की एकाग्रता बार-बार होती है, इसलिए वे बहुत आनन्ददायक होते हैं। जिस सच्चाई को हम व्यक्त कर रहे हैं, उसी की पुष्टि में यह दूसरा दृष्टांत हुआ।

१९—चित्त के एकाग्र होने में आनन्द तो रहता ही है, पर इसके सिवा कभी कभी वह सहज ज्ञान की छटा से देदीप्यमान भी रहता है जिससे बहुत सी छिपी हुई बातें एकाएक प्रकाश में आती हैं और इस प्रकार ज्ञान गोचर होती हैं। अनेक सुख जिनका वर्णन ऊपर किया गया है, ध्यान की एकाग्रता ही की विविध झाँकियाँ हैं। यही एकाग्रता शरीरिक और मानसिक प्रसन्नता की जननी है।

२०—लेकिन सुख दुख के इन विश्लेषणों ने अभी तक उस 'कोई वस्तु' के आंतरिक स्वरूप और सार गुण पर जिससे कि

ज्ञानवाह धारें उत्पन्न होती हैं, कोई प्रकाश नहीं डाला है। इस विषय पर विस्तार के साथ हमने नीचे विचार किया है। यहाँ पर सिर्फ इतना ही कह देना काफी होगा कि सुरत या आध्यात्मिक शक्ति का सच्चा स्वरूप आनन्द, चैतन्यता और ज्ञान है। ज्ञानवाह धारें, सुरत या रूह की शक्ति की किरणें हैं। सुरत की धार का मन और माया से मेल होने पर दुनिया के सम्पूर्ण सुख और दुख के अनुभव होते हैं।

२१—ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसके अनुसार सुख की परिभाषा इस प्रकार होगी—

ज्ञानवाह धारों के मन या माया के घाट पर जहाँ वे व्याप्त हो रही हैं, घनीकरण होने का जीव को जो भान होता है, उसे इस देश का 'सुख' कहते हैं।

प्रकरण ७

परम आनंद की अवस्था

२२—सुख और दुख की दशाओं की उपर्युक्त परिभाषा से साफ जाहिर होता है कि परम आनंद की अवस्था जो दुखों से सर्वथा रहित हो, केवल उसी परिस्थिति में संभव है जिसमें कि शारीरिक और मानसिक कोई लगाव शेष न रहे; केवल चैतन्य शक्ति ही का ज़ाती जौहर रह जावे। इस तरह की परम आनंद की अवस्था क्या संभव है, क्या उसका अस्तित्व है और यदि संभव है तो उसे प्राप्त करने के क्या आवश्यक साधन हैं, इन सब बातों का निश्चय करने के लिए चैतन्य शक्ति के जौहर का अनुशीलन करना और उसके नियमों का निरूपण या निर्धारण करना जरूरी है।

प्रकरण ८

सुरत की चैतन्य शक्ति का विकास

२३—यह मालूम है कि चैतन्य या चेतना शक्ति का जो सब प्राणियों और बनस्पतियों को चेतनता या जीवन देती है, बार बार नियमित रूप से व्यायाम होने से उसका विकास व संवर्धन होने

लगता है। इसके विपरीत यदि उसकी क्रिया अपने वाहन यानी शरीर के किसी भाग में जिसमें होकर यह प्रकट हो रही है, मंद पड़ जावे या बंद हो जावे तो वह हिस्सा सूखने लगता है या बेकार हो जाता है। यह जीवन प्रदान क्रिया ही सुरत की चैतन्य शक्ति का स्वाभाविक व्यायाम है, न कि अस्वाभाविक जो उस पर लाद दिया गया हो। जब से सुरत इस रचना में उतर कर आई है, उसे अपनी यह सहज क्रिया अनेक दिशाओं में करनी पड़ती है। स्थूल शरीर, उसकी इन्द्रियों और मानसिक शक्तियों को विकसित व स्वस्थ रहने के लिए व्यायाम की आवश्यकता है। मगर तरह तरह के व्यायाम जो अखाड़ों, व्यायामशालाओं और स्कूल कॉलेजों में जारी हैं, वे सुरत के व्यायाम के कोई विशिष्ट ढंग नहीं हैं। प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुकूल प्रतिक्रियाओं और कार्यों की तथा जीवन की आवश्यकताओं व उसके भीतर धरी हुई वासनाओं की पूर्ति में जो भी व्यापार व कार्य जीव को करने पड़ते हैं, वे सब सुरत के स्वाभाविक व्यायाम हैं जिनसे उसके भौतिक शरीर व मानसिक शक्तियों का आवश्यक विकास व संवर्धन होता है। परंतु इन सब व्यापार और कार्यों में सुरत का मन और मायिक पदार्थों से मेल होता है।

२४—ऊपर वर्णित शक्तियों और व्यापारों के संवर्धन से यह कदापि नहीं समझा जा सकता है कि साथ ही स्वयं सुरत के आंतरिक तत्व या गुप्त चैतन्य शक्ति का भी विकास व संवर्धन हो रहा है। तात्पर्य यह कि हमारे सब मामूली अनुभवों और तत्संबंधी कार्यों से ऐसी कोई बात नहीं पाई जाती जिससे पता लगे व हम समझ सकें कि स्वयं यह सचेतन जीव कौन है, उसकी बैठक शरीर में कहाँ है और वह किस प्रकार से शारीरिक व मानसिक आवरणों द्वारा कार्य करता है। इस विषय में अब हम अनुसंधान करेंगे।

प्रकरण ९

मन और सुरत का भेद

२५—यहाँ यह कह देना चाहिए कि सोच विचार करने का औज़ार मन है और उसको अपनी कार्रवाई के लिये सुरत की धार की

उतनी ही मोहताजी है जितनी कि इन्द्रियों को अपने अपने काम करने के लिए है क्योंकि गहरी नींद या बेहोशी में जब सुरत की धारें अंतःकरण के घाट से ऊपर को खिंच जाती हैं, तब मन भी इन्द्रियों की तरह बेकार हो जाता है। इसलिये सुरत और मन को एक न समझना चाहिए। सुरत चैतन्य, जीवन शक्ति का केन्द्र है जहाँ से धारें निकल कर मन और माया के घाट पर आती हैं।

प्रकरण १०

प्रेतात्माएँ

२६—प्रेत विद्या वालों ने बहुत से गैर-मामूली वाक़आत दर्ज किए हैं जिनसे ज़ाहिर होता है कि स्थूल शरीर छोड़ देने के बाद सुरत का ह्रास व नाश नहीं होता, वरंच वह दूसरी दशाओं को प्राप्त हो जाती है जिनके विषय में अभी चर्चा करेंगे। यदि इन दशाओं का सचमुच अस्तित्व है तो उनका महत्व सर्वोपरि हो जाता है क्योंकि उनके द्वारा चैतन्य शक्ति के जौहर और नियमों का वैज्ञानिक ढंग से अनुशीलन कर सकते हैं। इसलिए हमारी राय है कि उन असाधारण घटनाओं को जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, ऐसी कसौटी पर कसा जावे जिससे कि सर्वदा के लिए निश्चित रूप से उनके सही होने की तसदीक हो जावे या उनको झूठा ठहरा दिया जावे। अगर इन गैर-मामूली हालतों का वजूद साबित हो जावे तो सुरत चैतन्य के जौहर और उसके क़ायदे क़ानून पर काफी रोशनी पड़ेगी और चैतन्य शक्ति के अनुशीलन में कहीं विशेष प्रगति होगी। निपुणतर प्रेत विद्या विशारदों ने इस विषय में जो तहक़ीक़ात की हैं, उनको यदि ठीक मान लें तो हमारी छानबीन के नीचे लिखे हुए नतीजे निकलते हैं।

२७—स्थूल देह से न्यारे होने के बाद की जीव की पहली दशा सूक्ष्म देह का धारण करना है जिसे लिंग शरीर कहते हैं। इस सूक्ष्म शरीर के वासी जीव की रग़बत व नफ़रत यानी राग व द्वेष कमोबेश वैसा ही होता है जैसा कि जीवन काल में स्थूल शरीर में था। रूप और रंग में भी सूक्ष्म शरीर पहले वाले स्थूल शरीर के सदृश होता है।

२८—जो कुछ हमने ऊपर बयान किया है, उससे यही नतीजा निकलता है कि स्थूल देह के छूट जाने से जीव, देह रहित अवस्था में, उन विचार सम्बन्धों से जो जीवित अवस्था में दुख-कारक थे, छुट्टी नहीं पा जाता। महज़ स्थूल देह से जुदा हो जाने पर वे इल्लतें या कारण दूर नहीं हो जाते जिनसे विचार-सम्बन्ध उत्पन्न हुए थे और अंत में जो सुरत को स्थूल देह में लाने के कारण बने थे। आगे चल कर हमें यह बतलाने का मौक़ा मिलेगा कि यही साँसारिक राग द्वेष और वासनाएँ सुरत के पिंड देश में उतरने और स्थूल शरीर धारण करने के कारण हैं। जब तक इन कारणों से छुटकारा न हो और उनकी जगह अधिक ऊंचे चैतन्य स्रोतों से संबंध स्थापित न किया जावे, तब तक मन और माया से सुरत का संबंध लगा रहेगा और उसे दुनिया का दुख सुख सहना पड़ेगा।

२९—इससे देह रहित आत्माओं के सम्बन्ध से अब तक जो निर्णय हुए, वे ये हैं कि (१) स्थूल देह से छूट जाने पर प्रेत आत्मा को हमारी तरह ही दुख सुख भोगना पड़ता है और (२) स्थूल देह की मृत्यु हो जाने पर आत्मा का अभाव नहीं हो जाता।

प्रकरण ११

चैतन्य शक्ति का तथाकथित प्राकृतिक शक्तियों से भिन्नत्व

३०—इस बात के कहने की कोई ज़रूरत ही नहीं है कि सुरत की चैतन्य शक्ति अन्य प्राकृतिक शक्तियों की मिलौनी का नतीजा नहीं है। अक़्ली और इल्मी तौर पर भी इस तरह का नतीजा निकालना क़ुदरत की दूसरी ताक़तों की मौजूदा हालत के ख़िलाफ़ पड़ता है क्योंकि इस दुनिया में एक भी ताक़त ऐसी नहीं है जिसका ज़हूर अनेक ज्ञात रूपों में होता हो और रचना में उस ताक़त का आधारस्वरूप कोई निज का भंडार न हो। यही बात चैतन्य शक्ति के लिये भी लागू होनी चाहिए। नीचे दी हुई मिसाल से इस कथन की पुष्टि होगी।

३१—मोमबत्ती जलाई जावे तो उसमें से लौ निकलती है। अगर सिर्फ जलने की क्रिया ही को देखा जावे जिससे लौ उत्पन्न होती है तो बिना किसी अन्य विचार के यही नतीजा निकलेगा कि वही लौ उठने का कारण है। लेकिन यह दुरुस्त नहीं है। आग जलने की क्रिया में जो द्रव्य जलते हैं, उनकी अंतर्निहित विशिष्ट ऊष्मा ही लौ का कारण है यानी पदार्थों के अंदर जो विशिष्ट अपनी अपनी ऊष्मा मौजूद रहती है, वह तीव्र रूप में लौ के रूप में व्यक्त होती है। यही अंतर्निहित विशिष्ट ऊष्मा उष्णता का आधार स्वरूप भंडार है। उस के बिना गरमी का प्रकट होना संभव नहीं है। प्रकृति की अन्य शक्तियों के विषय में भी यही हाल पाया जाता है।

३२—फलतः इसके ही सदृश चैतन्य शक्ति का भी रचना में कोई **आधार स्वरूप भंडार या स्रोत** है।

३३—लेकिन मिसाल या दृष्टांत की दलील हमेशा अखंड्य नहीं ठहरती। इसलिये वैज्ञानिक पद्धति से खोज लगाने के लिए हमेशा ठोस वास्तविक घटनाओं से काम लेना चाहिये।

३४— प्रकरण १० में यह बात ज़ोर देकर कही जा चुकी है कि प्रेत विद्या की खोज़ लगाने वालों ने भूत प्रेतों के सम्बन्ध में जो बहुत सी असाधारण बातों का जिनमें से एक देह विहीन आत्माओं का होना है, वर्णन किया है, उन बातों की वैज्ञानिक रीति से जाँच करके यह तय कर लेना जरूरी है कि आया वे सच हैं या झूठ। अगर इस बात की सायंस द्वारा तसदीक हो जावे तो यह पूरा और पक्का सबूत इस अम्र का होगा कि सुरत चैतन्य को अपने वजूद के लिए स्थूल देहियों की मोहताजी नहीं है। और अगर यह बात मान ली जावे कि देह विहीन रूहों को उन स्थानों में गुजर हासिल है जहाँ उन साधारण क्रियाओं द्वारा जिनसे त्रिविध परिमाणों[१] में गति होती है, गुज़र नहीं हो सकती तो यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि देह रहित रूहें सूक्ष्म क्रियाशील शक्तियों से सम्पन्न होती हैं यानी वे कमोबेश ऐसी कार्रवाईयां कर सकती हैं जो आकाश मंडल में हो सकती हैं। ऐसी मिसालों की कमी नहीं है जिनसे जाहिर होता है कि बर-ख़िलाफ़

१ लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई या गहराई वाले त्रिविध विस्तृत क्षेत्र।

देहधारियों के, देह रहित रूहों यानी भूत प्रेतों पर गर्मी सर्दी का असर नहीं होता। इससे इस कथन की पुष्टि होती है कि भूत प्रेत आदि रूहों का जिस्म जिसे सूक्ष्म या लिंग शरीर कहते हैं, आकाश के मसाले का बना हुआ होता है क्योंकि आकाशी शरीर पर यदि गर्मी का कोई असर होता है तो बहुत कम। आकाश मंडल में से गर्मी की किरणों के गुजरने से उसके ताप में कोई ज़ाहिरा फ़र्क नहीं होता इसलिए प्रचलित जीवाणुवाद में जिसके अनुसार यह बात स्वयंसिद्ध रूप से मानी जाती है कि एक ख़ास अंश के ताप से ज्यादा गर्मी होने पर जीवाणुओं का अस्तित्व संभव नहीं, इस वाद में कुछ संशोधन करने की जरूरत होगी। यह वाद सिर्फ भौतिक जीवाणुओं तक ही सीमित है। लेकिन वह सार्वलौकिक रूप से आकाशीय व अन्य सूक्ष्मतर जीवाणुओं को लागू नहीं हो सकता। इससे एक और नतीजा निकालना अनुचित न होगा कि इस पृथ्वी पर पाए जाने वाले भौतिक जीवन के स्थूलतर स्वरूप, सूक्ष्मतर मंडलों से प्राप्त हुए हैं। वे मंडल इन स्थूल इन्द्रियों की पहुँच के बाहर हैं व उनमें उतनी ही जीवन की चंचलता और उतना ही जीवन का लखाव नज़र आता है जितना कि स्वतः हमारे इस पृथ्वी मंडल पर देखने में आता है। यदि यह मत मान्य कर लिया जावे तो वर्तमान जीवाणुवाद उलट जाता है व भौतिक जीवाणुओं को, अब अधिक देर, जीवन के उच्चतर स्तरों को उत्पन्न करने वाले प्राथमिक बीज नहीं मानना चाहिए। बल्कि उन्हें चैतन्य के उच्चतर स्रोतों व लोकों से निःसृत अत्यंत क्षीण और बिखरे हुए अंशमात्र समझना ठीक होगा। प्रकृति की अन्य शक्तियों के संबंध से जो खोज प्राप्त हुए हैं कि प्रकाश ताप आदि की ताकतें ऊपर के स्रोतों से निःसृत होती हैं, हमारी इस धारणा के अनुकूल पड़ते हैं।

३५—बहुत से प्रामाणिक उदाहरणों से यह भी मालूम होता है कि अर्द्ध मूर्छा अथवा लय की अवस्था में जब कि मनुष्य की देहिक क्रियायें स्थगित हो जाती हैं, अंतरी चैतन्य शक्ति की कार्रवाइयाँ जिनमें मन बुद्धि की कार्रवाईयां भी शामिल हैं, निहायत तीव्र हो जाती हैं। ऐसी हालतों में आइंदा आने वाली बातें और बहुत फासले पर होने वाली घटनाएं सही तौर पर बयान की जाती हैं। ऊपर के बयान से सहज में हम इस नतीजे पर पहुंच सकते हैं कि और भी सूक्ष्मतर कोषों

या खोंलों से छुटकारा पाने पर सुरत की और भी ऊंचे दर्जे की कार्य शक्तियां व्यक्त हो जाती हैं और इस प्रकार होते होते अंत में उसका असली रूप बरामद हो सकता है। ऐसी अवस्था में सुरत, निर्मल ज्ञान शक्ति और आनंद का केन्द्र और स्रोत हो जावेगी।

३६—फिलहाल सुरत की चैतन्य शक्ति को छोड़, यदि हम प्रकृति की अन्य विविध शक्तियों का विचार करें तो मालूम होगा कि वे अपने अस्तित्व के लिए उन माध्यमों[१] की मोहताज हैं जिनमें होकर वे अपना इज़हार करती हैं। यदि अपने अपने विशिष्ट या निजी माध्यमों से शक्तियां अलग कर दी जावें तो उनकी सत्ता तो ज़रूर रहेगी, पर माध्यम वाला उनका पूर्व रूप लोप हो जावेगा। उदाहरण के लिए रासायनिक क्रिया पर विचार कीजिये। यह विदित है कि रासायनिक क्रिया, अणु परमाणु या विद्युत्कणों (ईयान) के परस्पर विनिमय या अदल बदल से होती है। यदि रचना में परमाणुओं और विद्युत्कणों के मंडलों के परे कोई देश है तो वहाँ रासायनिक क्रिया उस रूप में संभव नहीं होगी जिस रूप में कि यहाँ होती है। अब बिजली का दृष्टांत लीजिए। अगर बिजली की शक्ति किसी माध्यम द्वारा अपना असर करती है तो यह जरूर है कि एक सतह ऐसी है जहाँ से वह असर करती है और दूसरी सतह ऐसी है जिस पर उसका असर होता है। ये दोनों सतहें सर्वथा एक नहीं हो सकतीं क्योंकि दोनों एक हों तो इसका मतलब होगा कि जिस सतह पर विद्युत शक्ति की स्थिति है, उसी पर वह अपना असर भी कर रही है। फिर तो उस शक्ति की गुप्त अथवा अप्रकट अवस्था हो ही नहीं सकती। ऊपर जो प्रतिज्ञा हमने प्रतिपादित की है, यदि वह यथार्थ है तो मानना पड़ेगा कि दोनों सतहें एक दूसरी से पृथक होंगी जैसे कि कोई दो भिन्न भिन्न धरातल जिनसे हम परिचित हैं, हुआ करते हैं। उदाहरणार्थ मामूली (त्रिविध) क्षेत्र परिमाणों में से कोई दो के समान वे पृथक पृथक तथा फिर भी परस्पर मिलित होंगी। ऊपर की सतह से जब ताकत नीचे की सतह पर आती है, तब नीचे की सतह सचेष्ट और

१ वह बीच का द्रव्य या साधन जिसमें से होकर या जिसके वसीले कोई कार्य हो। अंग्रेजी का 'मीडियम' व संस्कृत का 'माध्यम' एक ही हैं। खोल, ग़िलाफ, कोष, आवरण, आवेष्ठन, शरीर आदि।

जब ताकत नहीं आती तो वह निश्चेष्ट हो जाती है। विद्युत शक्ति के सम्बन्ध से अगर नीचे की सतह वह सूक्ष्म द्रव्य हो जिसे आकाश कहते हैं तो अपरिहार्य निष्कर्ष निकलता है कि आकाश सर्वत्र व्यापक नहीं है वरंच अपने विशिष्ट मंडल तक ही सीमित रहता है।

३७—यहाँ यह कह देना ज़रूरी मालूम होता है कि जिन तीन विस्तार या क्षेत्र परिमाणों से हम परिचित हैं, उन्हीं तीनों में सारी रचना का विस्तार सीमित नहीं कर देना चाहिये। इन तीन (लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई) के अलावा और भी विस्तार-साधन यानी क्षेत्र-परिमाण हैं। इसलिये हमारे मत से विश्व के विस्तार के विषय में जो हमारी प्रचलित धारणा है, उसमें कुछ संशोधन करना होगा। हमें जो कुछ गोचर होता है, उससे कहीं अधिक बड़े विस्तार के और सूक्ष्मतर मंडल अपरिलक्षित और अज्ञात मौजूद हैं जो प्रत्येक वस्तु को जिसे हम देखते हैं, घेरे हुए व उसमें व्याप्त हैं। अनेक घटनाएँ ऐसी हुई हैं कि जिनकी क्रियाओं से पता चलता है कि वह उक्त मंडलों में से होकर हुई हैं और जाने हुए त्रिविध परिमाणों में से होकर नहीं हुई हैं। रचना के विकास वाले भाग में इस विषय की ज्यादा चर्चा करेंगे।

३८—यदि हम अन्य प्राकृतिक शक्तियों की छान बीन करें तो यह बतलाना कठिन न होगा कि माध्यमों के बदल देने से उन शक्तियों के वर्तमान रूप भी बदल जाते हैं। इस कथन को और स्पष्ट करने के लिए अग्नि या उष्णता का उदाहरण लीजिए।

३९—यह कमोबेश सिद्ध है कि आकाश में गर्मी का गुज़र होने से आकाश का ताप लगभग एक-सा ही रहता है। इससे यह नतीजा निकालना ना-मुनासिब न होगा कि उष्णता की अवस्था के यानी अग्नि के घटक, आकाश के घटकों से भिन्न हैं और जहाँ तक उष्णता की दशा से संबंध है, उन दोनों घटकों में यदि कोई साम्य है तो अति अल्प। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ताप या गर्मी आकाशीय विकार या परिवर्तन नहीं है और आकाशीय विद्युत्करण उसमें कोई भाग नहीं लेते। लेकिन आकाश तत्व को छोड़, प्रकृति के अन्य तत्वों पर गर्मी का प्रभाव पड़ता है। हमारा मत है कि उष्णता या अग्नि, द्रव्य के वे विघटित कण हैं जो विद्युत्कणों और साधारण तत्व कणों की बीच की अवस्था में पाए जाते हैं। कोई भी क्रिया जो परमाणुओं को

विघटित करती है, अग्नि का स्वरूप उत्पन्न करती है, चाहे विघटन का कारण ताप या अग्नि स्वयं न हो। शक्ति मात्र अपने समस्त रूपों में ऐसे विघटन को घटित कर सकती है और जब उसकी गति परमाणुओं के प्रदेशों में से होती है, तब ही संग में अग्नि या उष्णता का प्रादुर्भाव होता है। विद्युत जिसमें कि शक्ति अत्याधिक होती है, अग्नि से शून्य है परंतु जब वह परमाणविक धरातल पर प्रकट होती है, तब अग्नि को उत्पन्न करती है। यदि द्रव्य या परमाणुओं की इस उल्लिखित विघटित दशा को अलग या दूर कर दें तो फिर अग्नि की दशा ही जाती रहेगी।

४०—अब हम यह कहने का साहस करते हैं कि जो प्रतिज्ञा हम कर आए हैं कि विभिन्न प्राकृतिक शक्तियाँ अपने अपने माध्यमों पर जिनमें होकर वे क्रियाएँ करती हैं, अपने वर्तमान स्वरूपों के लिये सर्वथा निर्भर हैं, उपर्युक्त तक प्रणाली से स्थापित हो जाती है।

प्रकरण १२

प्राचीनों के पांच तत्व

४१—परमाणुओं की इस विघटित अवस्था या दशा को प्राचीन काल के लोग अग्नि तत्व कहते थे। शेष चार तत्व भी जैसा कि साधारणतया समझा जाता है, द्रव्यों के स्थूल और प्रारम्भिक रूप नहीं थे, बल्कि द्रव्यों की चार दशाएँ थीं, यथा—पृथ्वी अर्थात् ठोस दशा, जल यानी तरल, वायु यानी वायव्य और आकाश यानी आकाशीय दशा। इस प्रकार प्राचीनों के पाँच तत्व, द्रव्यों की उच्चतर वैज्ञानिक श्रेणी विभाजन की शैली की पाँच अवस्थाएँ हैं।

प्रकरण १३

सुरत, आदि शक्ति

४२—अब हम उस आद्य शक्ति पर जिसको सुरत कहते हैं, विचार करेंगे। जिस प्रकार प्रकृति की अन्य शक्तियों के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए उनको अपने अपने माध्यमों से अलग करके उनकी परीक्षा की गई थी, उसी प्रकार यदि सुरत की चैतन्य

शक्ति की परीक्षा करें तो देखना चाहिए कि उसकी क्या अवस्था होगी। इस हेतु उन अवस्थाओं की परीक्षा करना ठीक प्रतीत होता है जो कि मृत्यु के समय या अर्द्ध मूर्च्छा में या बेहोशी की नींद में घटित होती हैं क्योंकि मृत्यु होने पर भौतिक शरीर का पूर्ण रूप से त्याग हो ही जाता है और अन्य अवस्थाओं में भी वह निष्क्रिय होकर पड़ा रहता है।

४३—सुरत के जो साधारण धर्म व लक्षण देखने में आते हैं, वे ये हैं:—

(१) ज्ञान।

(२) सुख दुख के अनुभव जो ज्ञानवाह कार्य के अंग हैं, ज्ञानवाह कार्य से प्रत्यक्ष बोध, इससे अनेक बार संकल्प व गतिवाह कार्य उत्पन्न होते हैं।

(३) विचार तथा अन्य मानसिक क्रियाएँ, और

(४) जीवन शक्ति जिसके द्वारा आहार का अंगीकरण होता है व भौतिक शरीर बनता है।

४४—अब ये सब लक्षण देह विहीन मृतात्माओं में जब वे रक्षपाल, भूतप्रेत, पिशाच व पलीत के रूपों में प्रकट होते हैं, पाए जाते हैं। यही हालत अर्द्ध मूर्च्छावस्था या लय में भी पाई जाती है। शरीर से विलग होने पर या उसकी क्रियाएँ स्थगित होने पर इन लक्षणों के अतिरिक्त सुरत में उच्चतर ज्ञानेन्द्रिय शक्तियाँ, पूर्व दृष्टि यानी आने वाली बातों का पूर्व ज्ञान, त्रिविध परिमाण युक्त लोकों से भिन्न लोक में गति आदि प्राप्त हो जाती है। इससे यही अनिवार्य परिणाम निकलता है कि प्राकृतिक शक्तियों के विपरीत, चैतन्य शक्ति के आवरणों या कोषों या माध्यमों के हटा देने पर उसके समस्त व्यापारों में कोई अंतर नहीं आता यानी उसकी कुल कार्रवाइयाँ ज्यों की त्यों चलती रहती हैं। ऊपर के बयान से यह नहीं समझना चाहिए कि सभी जीव देह त्यागने पर भूत प्रेत आदि योनियों में चले जाते हैं। आगे चल कर (भाग ३, प्रकरण ११४ में) हम विस्तारपूर्वक उन अवस्थाओं और हालतों का जिक्र करेंगे जो मृत्यु के समय उपस्थित होती हैं और उन नियमों को भी समझावेंगे जिनके अनुसार रचना में पाई जाने वाली अगणित

श्रेणियों के जीवों के मरने पर क्या गति होती है। हमारे इस प्रवचन का अभिप्राय केवल यही बतलाना है कि सुरत की चैतन्य शक्ति के निचले माध्यमों को हटा देने से उसके स्वाभाविक कार्यों में कोई फ़र्क नहीं आता। बल्कि इसके विपरीत, गिलाफ़ों के हटा देने से सुरत का शक्ति सामर्थ्य और बढ़ जाता है।

४५—प्रकरण ९ में हम कह चुके हैं कि मन एक औज़ार है जिसके ज़रिये सुरत अपनी मानसिक क्रियाएँ करती है। इसलिये वह भी उसकी क्रिया का एक माध्यम हुआ। आगे चल कर (प्रकरण २१) में हम बतलावेंगे कि किस प्रकार सुरत की चैतन्य शक्ति बग़ैर मन की मदद के अपने जातीय धर्म का पालन कर सकती है। इस समय अपने प्रवचन को एक क़दम आगे और बढ़ाना पर्याप्त होगा कि सुरत के ऊपर जो आवरण चढ़े हुए हैं, उनमें से हर आवरण के दूर हटने पर उसकी अंतर्निहित शक्ति उत्तरोत्तर अधिक प्रबल रूप में प्रकट होती जाती है और अंत में सुरत की चैतन्य शक्ति बिना किसी मिलौनी के आदि शक्ति, ज्ञान और आनंद के स्रोत का रूप धारण कर लेती है।

४६— अगर यह दलील दुरुस्त है तो नतीजा निकलता है कि कुदरत की सब शक्तियों का अस्तित्व (वजूद) सुरत चैतन्य की शक्ति पर निर्भर है। प्राणि और वनस्पति रचना में बीच का अंकुरित व विकसित होना ग़ौर से देखा जावे तो हमारी इस विचार धारा का विशेष रूप से समर्थन होगा क्योंकि देखने में आता है कि जब तक सुरत पिंड में ठहरी रहती है, कुदरत की अनेक शक्तियाँ और तत्व आपस में रल मिल कर काम करते हैं और पिंड की वृद्धि और पोषण में मददगार होते हैं, लेकिन ज्योंही सुरत देह को छोड़ती है कि विपरीत अवस्था पैदा होने लगती है और वही कुदरत की शक्तियाँ और तत्व उसे नष्ट भ्रष्ट करने का काम शुरू कर देते हैं और अंत में अपने पूर्व रूप में लौट जाते हैं।

४७—अगर यह बात एक जीव या सुरत के सम्बन्ध में सत्य है तो सब सुरतों के परम भंडार के विषय में जो कि सच्चा और सबका

कर्त्तार है, और भी अधिक प्रमाण से सत्य साबित होती है। यह समस्त रचना उस कर्त्तार ही की चेतन धारों के संघट्ट व प्रभाव से सुव्यवस्थित रूप यानी सृष्टि के रूप में देखने में आई है और उसी मूल कारण द्वारा रचना की सम्हाल व व्यवस्था के लिए अपरिवर्तनशील और सर्वप्रज्ञापूर्ण नियम नियत हुए हैं।

प्रकरण १४

सुरत का निज भंडार

४८—पूर्व प्रवचन में हम स्पष्ट कह आए हैं कि सुरत सच्चिदानन्द रूप यानी आनंद, ज्ञान और शक्तिमय है। अब हम एक काल्पनिक उदाहरण लेकर एक जीव की अत्यानंद अवस्था का चित्रण करना चाहते हैं। इससे हम सुरत के आदि और परम स्रोत का जो तेजोमय ऐश्वर्यशाली तमाम रचना का सच्चा कर्त्तार है, (उसके स्वरूप का) कुछ अनुमान कर सकेंगे, यद्यपि वह अनुमान बहुत तुच्छ और स्थूल ही क्यों न हो।

४९—ऐसी अत्यंत हर्षोत्पन्नकारक दशाओं का अनुमान किया जा सकता है जिनमें कोई कोई व्यक्तियों को अपनी सुध बुध ही न रहे, जैसे—आनन्द में मग्न कर देने वाली प्रतिमावली, विशद तेजोमय पैनी बुद्धि के चमत्कार, अत्यंत आकर्षक संगीत, श्रेष्ठ सौन्दर्य तथा अन्य इन्द्रियों के उत्कृष्ट उल्लास। अब यदि एक मानवीय व्यक्ति में जो कि चैतन्य की एक अत्यंत तुच्छ किरणमात्र है यानी जिसकी सत्ता करीब करीब नहीं के बराबर है, अगर ऊपर चित्रित भिन्न भिन्न प्रकार से परम आनन्द में मग्न होने का सामर्थ्य मौजूद है तो सुरत के परम स्रोत के आनन्द, ज्ञान और चैतन्यता का क्या अनुमान किया जा सकता है! वह अचिन्त्य है। उसका देश केवलतः चैतन्य शक्ति, हर्ष और आनन्द का धाम है जो सर्वथा अजर अमर अविनाशी एवं अभाव रहित है।

५०—सुरत के निज भंडार यानी कुल्ल-मालिक और उसके धाम का रचना के अन्य मंडलों और वहाँ के अधिवासियों से क्या

सम्बन्ध है, उसका विचार विमर्श आगे चल कर किया गया है। फिलहाल इतना कह देना काफी होगा कि उस परम पुरुष की चैतन्य किरनें रचना में हर जगह मौजूद हैं; मगर उसका निज धाम, मन और माया [१] के देशों से बिल्कुल अलग और परे है। जिस प्रकार आस्मान में बादल के मौजूद होने से आस्मान की अपारता में कोई फर्क नहीं आता, उसी प्रकार इस बिलगाव से कुल्ल-कर्त्तार की अनंतता में कोई बाधा नहीं आती। (तृतीय भाग, प्रकरण ७९ में इस पर विस्तृत विवेचना की गई है।)

प्रकरण १५

धर्म के उद्देश्य का नज़र आना

५१—अब हमें ज्ञात होता है कि धर्म के उस उद्देश्य को जिसकी चर्चा हमने इस पुस्तक के आरम्भ में की है, कहाँ और कब प्राप्त कर सकते हैं। जब सुरत कुल्ल-कर्त्तार के निर्मल चैतन्य देश में पहुंचेगी, तब वह दुःख और हर क़िस्म की मुख़ालिफ़त यानी विरोध से मुक्त होकर अमर हो जावेगी और कुल्ल-कर्त्तार के महा विशाल दर्शनों का अमर विलास पाकर परम आनन्द में सदा के लिए मग्न हो जावेगी।

प्रकरण १६

सुरत और उसका स्रोत

५२—इस कदर बयान करने के बाद अब यह दरयाफ्त करना जरूरी हो जाता है कि कुल्ल-मालिक का धाम कहाँ है और उस धाम को जाने वाली सुरत इस समय कहाँ मुकीम है, क्योंकि जब तक इन दो बातों का निर्णय न हो जावे तब तक यात्रा पूरी करने के साधनों को निश्चित कहना तथा उनकी साध्यता का निर्णय करना नहीं हो सकता।

---

१ चेतन व अचेतन (जड़) प्रकृति के द्रव्य।

५३—चूँकि यह पहले कहा जा चुका है कि सुरत की चैतन्य शक्ति ही आदि शक्ति का कारण है और यह कि कुदरत की शक्तियाँ अपने वजूद के लिए सुरत की चैतन्य शक्ति पर निर्भर हैं, यह नतीजा निकालना गलत न होगा कि सुरत की चैतन्य शक्ति और अन्य प्राकृतिक शक्तियों में बहुत सी बातों में सादृश्य है। अतएव आगे एक और नतीजा निकालना अन्याय युक्त न होगा कि प्रकृति की अन्य शक्तियों की भाँति सुरत की चैतन्य शक्ति में भी अपने आदि भंडार जैसे प्रभाव कुछ कुछ मौजूद रहते हैं यानी सुरत में अपने भंडार के सदृश खवास और गुण मौजूद हैं और जब जब वह एकत्रित होकर केन्द्र बनाती है तो उस केन्द्र में किसी कदर वही खवास मौजूद होते हैं जो कि आदि भंडार में (जिस तरह कि आतशी शीशे से सूरज की किरनियाँ जब एक विन्दु पर एकत्रित कर दी जाती हैं तो वह विन्दु एक छोटा सूरज सा बन जाता है) और अगर ताल व दर्पण ऐसा हो कि किरनियों का उसमें प्रवेश करने में किसी प्रकार के अवरोध का नाम ही न रहे तो उस एकत्रित शक्ति का आदि स्रोत के साथ पूर्ण सादृश्य होगा। भौतिक जगत में ऐसा पूर्ण सादृश्य क्वचित ही कहीं मिले। अलबत्ता इस आदर्श से एक बहुत नज़दीक का उदाहरण मनुष्य है जो इस पृथ्वी तल पर सचेतन जीव का अत्यंत विकसित रूप है। संक्षेप में विश्व व्यवस्था के क्रम को समझने के लिए तथा रचना के विविध भागों का ज्ञान जिनमें वह विभाजित है, प्राप्त करने के लिए तथा परम आनन्द का धाम कहाँ है, यह जानने के लिए सबसे व्यावहारिक और सुखसाध्य रीति मानवीय पिंड के व्यवस्था-क्रम का अध्ययन करना है।

५४—इस वाह्य जगत के अतीव विस्तार का अध्ययन करना व पता लगाना उत्तम से उत्तम यंत्रोपकरणों द्वारा भी व्यर्थ होगा, क्योंकि इन स्थूल इन्द्रियों की पहुंच बहुत से सूक्ष्म निम्न स्तरों तक भी जो इस रचना में विद्यमान हैं, नहीं है। फिर कुल रचना का भेद कैसे जाना जा सकता है? इसलिए अपने उल्लिखित लक्ष्य और उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु खोज लगाने का एक मात्र अमली तरीका यह है कि चैतन्य

भंडार से आई हुई अंश रूप किरनों की यानी सुरतों की विधिवत् परीक्षा की जावे।

प्रकरण १७

मनुष्य जीवन के मुख्य तीन अंग

५५—मानव शरीर और उसकी मानसिक क्रियाओं का विश्लेषण किया जावे तो मालूम होगा कि मानवीय जीवन व्यवस्था के मुख्य तीन अंग हैं—

(१) तन, इन्द्रियों सहित। यह द्रव्यों की ठोस, तरल, वायवीय, आग्नेय और आकाशीय अवस्थाओं अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश तत्वों से बना हुआ है। प्रकृति की वह जड़ शक्तियाँ भी जो शक्ति के अपने विशिष्ट माध्यमों यानी खास खास पर्दों में से गुज़र कर कार्रवाई करने से उत्पन्न होती हैं, इसमें शामिल हैं।

(२) मन, जिसका संबंध अंतःकरण (भीतरी इन्द्रिय) से है। अंतःकरण के कार्य-भेद से चार अंग हैं—(१) मन—जो उत्तेजनाओं की प्रतिक्रिया रूप अपने घाट पर विचारों को उत्पन्न करता है। (२) चित्त—सुरत या अवधान की धारें जिनके द्वारा विचार भिन्न भिन्न इष्ट वाह्य वस्तुओं की ओर प्रवृत्त होकर उनसे मेल करती हैं। (३) बुद्धि—जिससे समझ बूझ पैदा होती है। यह सुरत की धार के केन्द्रीभूत होने के परिणामस्वरूप तेज या प्रकाश की छटा है। (४) अहंकार—जो जीव में आपा उत्पन्न करता है अर्थात जिसके वश जीव अपने को औरों से पृथक व्यक्ति समझता है।

(३) सुरत चैतन्य की शक्ति—जो शेष दो मुख्य अंगों को चेतन करती है और बगैर जिसकी मदद के वे दोनों सोते और बेकार पड़े रहेंगे।

प्रकरण १८

मानवीय शरीर के छः उप-विभाग

५६—ऊपर के प्रकरण में जिन तीन मुख्य अंगों का जिक्र किया गया है, एक तौर पर इस शरीर रूपी लघु विश्व के तीन बड़े दर्जे या विभाग हैं। इनके अलावा पिंड अथवा शरीर में छः और छोटे दर्जे या उप विभाग हैं :—

(१) गुदा चक्र—यह सरलांत्र में स्थित शिराजाल या ग्रन्थि है। इसका काम मल त्याग करना है।

(२) इन्द्री चक्र—यह ग्रन्थि इन्द्रिय स्थान पर है। इसका मुख्य कार्य संतान उत्पन्न करना है अर्थात बीज बनाना जो अंत में जाकर भौतिक शरीर के रूप में विकसित होगा।

(३) नाभि चक्र—यह नाभि स्थान पर स्थित केन्द्र है। यह पाचन क्रिया को नियमित करता है और कुल शरीर के भरण पोषण के लिए भौतिक द्रव्य या सामग्री उपस्थित करता है।

(४) हृदय चक्र—इस ग्रन्थि को अनाहत भी कहते हैं। यह उरोस्थि के निचले भाग में यानी सीने के नीचे के गड्ढे (कौड़ी) में है। यहाँ से कुल पिंड का बंदोबस्त होता है। इसी स्थान से सुख दुख आदि का अनुभव होता है। ऐसी घटनाएँ हुई हैं जिनमें दिल की धड़कन और नाड़ी बंद हो जाने पर भी इस चक्र की क्रिया बदस्तूर होती रही है। संवेदन और ज्ञान और गतिवाह कार्य ऐसी हालतों में कुछ समय तक जारी रहे, यद्यपि हृदय की क्रिया बन्द हो गयी थी। लेकिन इस चक्र पर धक्का लगने से व इसकी क्रिया के बंद होने से सब शारीरिक व मानसिक क्रियाओं का पूर्ण रूप से अंत हो जाता है।

(५) कंठ चक्र—यह कंठ में स्थित है। यह सूक्ष्म श्वसन क्रिया को संचालित करता है।

(६) षटम् चक्र—यह ग्रन्थि दोनों आँखों के बीच में नाक की जड़ से पौन इंच से एक इंच अंदर की ओर स्थित है। यह सुरत यानी रूह की बैठक है।

५७—नीचे के चार चक्रों की क्रियाएँ कमोबेश प्रकट रूप से देखने में आती हैं। ऊपर के दो चक्रों की क्रियाओं की जानकारी और परख केवल आध्यात्मिक प्रयोगों और आगे निर्दिष्ट विधियों की साधनाओं द्वारा ही हो सकती है। मृत्यु होने के समीप और मृत्यु के समय जिस प्रकार क्रमशः सुरत का खिंचाव होता है और जो जो अवस्थाएँ व्यापती हैं, वे सब इन अभ्यासों के करने वालों पर भी पूरे होश व हवास के साथ गुज़रती हैं। इस प्रकार अभ्यास में उन्हें जो तजुरबे हासिल होते हैं, उनसे जो कुछ हमने ऊपर बयान किया है, हमारे कथन की सच्चाई की प्रत्यक्ष जाँच हो सकती है।

५८—अगर भविष्य में ऐसी कोई वैज्ञानिक रीतियाँ आविष्कृत हो सकें जिनसे मरते हुए मनुष्य के शरीर के निर्जीव और सजीव भागों में भेद किया जा सके, तो हमारे उपर्युक्त कथन की उन रीतियों से परख करने पर पुष्टता होगी. और यह विधि वैज्ञानिक दृष्टिकोंण से शायद और अधिक संतोषप्रद होगी।

प्रकरण १९

ज्ञान और गति वाह धाराएं

५९—स्थूल शरीर, इन्द्रियों और छः चक्रों की क्रिया करने की मुख्य दो धाराएं हैं।

(१) वह धार जो ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान संस्कारों को अंतर में ले जाती है और जो आहार का आत्मीकरण करने या उसको अंग लगने योग्य बनाने के लिए तथा शरीर की वृद्धि के लिए आवश्यक चैतन्यता प्रदान करती है। यह सुरत की धार है। यह अंतरमुख है व इसमें आकर्षण है। यह दो रूपों में प्रकट होती है—(१) ज्ञानवाह और (२)

रचनात्मक। पहला रूप प्राणि जगत में मिलता है जो मानसिक क्रियाओं से सम्पन्न है। ये कार्रवाइयाँ ज्ञान तन्तुओं द्वारा या अन्य सूक्ष्म वाहनों के जरिये होती हैं। यह सुरत की धार का ऊंचे दर्जे का रूप है। इसके विषय में रचना वाले भाग में विशेष रूप से विवेचन किया जावेगा। धार का दूसरा रूप यद्यपि नीचे दर्जे का है, तथापि रचना के लिए अपरिहार्य है। इन दोनों धारों का आपस का संबंध उल्लिखित भाग में पूरे तौर पर किया जावेगा। प्राणि जगत में दूसरा रूप अपने व्यापार के लिए पहले रूप के आधीन और आश्रित है क्योंकि देखने में आता है कि भौतिक और सूक्ष्मतर स्तरों से ज्ञान वाह रूप के बिल्कुल गायब हो जाने पर रचनात्मक क्रियाएँ बंद हो जाती हैं और उनके बंद हो जाने से अन्त में रचनात्मक देह का पात हो जाता है।

(२) दूसरी धार प्रतिक्रिया की धार है। इससे संकल्प विकल्प, गति, विसर्जन और संहार की क्रियाएँ होती हैं। पिंड की बहिरमुख व्यवस्था—शारीरिक और मानसिक—का नियमन इसी धार से होता है। इस धार के उत्थान का केन्द्र मन है। वनस्पति रचना में संकल्प क्रिया बिल्कुल नहीं होती और गति क्रिया भी केवल उनकी वृद्धि में पायी जाती है। अन्तिम दो क्रियाएँ प्राणि जगत के समान अधिक बलवान नहीं, तो उतनी ही बलवान अवश्य होती हैं। मन जो कि क्रियाशील स्वरूप यानी जाग्रत अवस्था में आपा संबंधी व्यापार का केन्द्र है, वनस्पति जगत में प्रच्छन्न अवस्था में रहता है। उसी प्रकार सुरत केन्द्र भी जहाँ आंतरिक क्रियाओं का सम्बन्ध है, प्रच्छन्न रहता है। सुरत चैतन्य की धार के रचनात्मक रूप के समान, मन अर्थात् बहिरमुख धार भी अपने कार्य के लिए सुरत की चैतन्य शक्ति पर अवलंबित है क्योंकि बहिरमुख धार का यावत् कार्य

सुरत की धार के पूर्णतः खिंच जाने से सर्वथा स्तब्ध हो जाता है।

६०—ऊपर के बयान से स्पष्ट है कि मन और सुरत की धारों ने अपने सम्मिलित कार्य द्वारा भौतिक शरीर और छः चक्र बनाए हैं। इनमें सुरत ही मन के घाट पर बैठ कर चेतनता, शक्ति और मानसिक क्रियाओं की प्रदाता या प्रवर्तक है।

प्रकरण २०

ब्रह्मांडी मन का देश और उसके छः उप-विभाग

६१—मन के भाव, प्रिय अप्रिय, रीझ रुझान व राग द्वेष शरीर पर क्या प्रभाव डालते हैं, यह बात नीचे दी हुई मिसाल से समझ में आ सकती है। एक तुनक मिज़ाज शख्स मौक़े बे-मौक़े छोटी छोटी बातों पर गुस्से में आ जाता है। जब तब क्रोध के आवेश में आने से उसके चेहरे की मांस पेशियाँ निरंतर विशिष्ट प्रणाली में चालित होती रहती हैं। इससे वह एक विशिष्ट स्थायी रूप धारण कर लेती हैं। यहाँ तलक कि उसकी झलक उसकी औलाद के चेहरों पर भी उतर आती है। इस मिसाल से प्रतिज्ञा रूप में यों कहा जा सकता है कि मन के प्रबल भाव या आवेग की छाप इस भौतिक शरीर पर पड़ती है और आगे चल कर वह संतान में भी उतर जाती है। यदि यह बात या प्रतिज्ञा क्षणिक अवस्थाओं के संबंध से जिनका असर व्यक्तिगत पिंड, मन और सुरत के घाटों पर पड़ता है, ठीक उतरती है तो कुल रचना के भिन्न भिन्न लोकों और मन व सुरत के स्रोतों के लिए यह नियम और भी सत्य होना चाहिए।

६२—हमारी ऊपर की तर्क प्रणाली से यह नतीजा निकलता है कि नर चोले के पिंडी छः चक्रों से संबंधित रचना के छः मंडलों के परे ब्रहमांडी मन का बहुत बड़ा देश, सुरत चैतन्य से मिला हुआ, होना चाहिए और उस देश के भी वैसे ही छः उप-विभाग होने चाहिए जैसे कि भौतिक शरीर में स्थित उसके अंश यानी पिंडी मन के देश में होते हैं।

६३—पारिभाषिक भाषा में यह देश ब्रह्मांड कहलाता है जिसका शब्दार्थ "ब्रह्म का अंडाकार मंडल" है। ब्रह्म को ब्रह्मांडी मन या विश्व व्यापी मन भी कहते हैं। ब्रह्मांड देश में पार-ब्रह्म पद यानी ब्रह्म के परे का पद या स्थान भी शामिल है। पार-ब्रह्म पद को ब्रह्मांड में शामिल किए बिना ब्रह्मांड के छः उप-विभागों की गिनती पूरी नहीं होगी और न नर चोले या पिंड के छः चक्रों का मिलान ब्रह्मांड के विभागों से जिनके कि यह प्रतिविंब हैं, ठीक बैठ सकेगा।

६४—प्रकरण १८ में हम कह चुके हैं कि सुरत की बैठक छठे चक्र में है और पाँचवे व चौथे चक्र क्रमशः सूक्ष्म प्राण और मन के स्थान हैं। इन चक्रों और अन्य चक्रों में दिखाई पड़ने वाले जो रगों या नसों के केन्द्र हैं, वह भौतिक या स्थूल द्रव्यों के बने हुए हैं, परन्तु इन चक्रों से संबंध रखने वाली शक्तियों के केन्द्र सूक्ष्मतर हैं। इन शक्ति-केन्द्रों का अंतरी समागम या तार या सिलसिला रचना के अपने अपने सूक्ष्म मंडलों के साथ लगा हुआ है।

६५—यह भी देखने में आता है कि इन ज्ञान केन्द्रों या रगों के केन्द्रों को जान अथवा चैतन्य शक्ति मन के घाट से होकर मिलती है क्योंकि देखा गया है कि चौथे यानी मन के चक्र की क्रिया बिल्कुल बंद हो जाने से स्थूल शरीर का पतन हो जाता है। इसी कारण से इन छः चक्रों की क्रिया मन के सहयोग से सुरत के केन्द्र द्वारा होती है। यही बातें ब्रह्मांड के छः उप-विभागों पर लागू हैं।

६६—इस दृष्टि से ब्रह्मांड में भी ब्रह्मांडी मन से मिला हुआ सुर्त चैतन्य का एक महान केन्द्र होना चाहिए। इसके अस्तित्व के सिवाय और कोई बात निश्चयात्मक रूप से इस केन्द्र के विषय में वैदिक धर्म या वेदांत दर्शन को ज्ञात नहीं है। इस बात का संकेत उनमें नकारात्मक रूप से ही किया है। वेदों में इसे 'नेति' (यह नहीं) कहा है और यही पार-ब्रह्म पद है। यह ब्रह्म से उसी तरह अलग है जिस तरह कि हमारा सुरत केन्द्र मन से अलग है। परन्तु वे एक दूसरे से उसी तरह संबंधित हैं जैसे कि जीव की सुरत व मन।

६७—इस कथन में जो विरोधाभास मालूम होता है, वह किसी अंश तक, विविध क्षेत्र परिमाणों में जो परस्पर लगाव और बिलगाव

एक ही साथ पाया जाता है, उसके विचार सादृश्य से दूर हो जाता है। वस्तुओं के भिन्न भिन्न ओर के क्षेत्र परिमाण एक संग या युगपत, अलग अलग भी हैं व मिले हुए भी, जैसे कि तीसरा क्षेत्र परिमाण दूसरे क्षेत्र परिमाण से मिला हुआ होकर भी अलग है। जहाँ दो क्षेत्र परिमाण मिलते हैं, वहीं उनका संग होता है। लेकिन केवल इस संग से ही ऊँचे दर्जे के क्षेत्र परिमाण का पूरा ज्ञान कर लेना पर्याप्त नहीं है। यही कारण है कि उच्चतर क्षेत्र परिमाण या लोक से जब किसी क्रिया का प्रभाव इस मंडल के हमारे जाने हुए क्षेत्रों व पदार्थों पर पड़ता दृष्टिगोचर होता है, तब वह यद्यपि ऊपर के लोक का अस्तित्व प्रमाणित करता है, फिर भी उस लोक का ज्ञान प्राप्त करने के लिए पर्याप्त नहीं है। ऐसे ही कारण से वैदिक धर्म को चैतन्य शक्ति के उस महान केन्द्र का जिसका जिक्र ऊपर किया गया है, ज्ञान नहीं हुआ क्योंकि उस धर्म के अंतरी भेद भरी शिक्षा पर गौर करने से स्पष्ट होता है कि उसमें ब्रह्म (ब्रह्मांडी मन) के देश या मंडल के परे का ज्ञान नहीं है। रचना वाले भाग में चैतन्यता के इस महान् केन्द्र की अवस्थाओं और विवरणों का विशेष रूप से विवेचन किया है। वेद और वेदान्त में इस केन्द्र की ओर जो संकेत किया गया है, उसका उल्लेख हमने यहाँ उस भ्रम को दूर करने के अभिप्राय से किया है जो अन्यथा 'ब्रह्मांड' शब्द का जिस मानी में हमने प्रयोग किया है उसको स्पष्ट न कर देने से होता। वैदिक धर्म के मुकाबले में हम 'ब्रह्मांड' शब्द का अधिक व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हैं। उसमें पार-ब्रह्म पद भी आ जाता है। वेद के 'ब्रह्मांड' शब्द में पार-ब्रह्म पद शामिल नहीं है।

६८—हमारे धर्म के अनुसार जो कबीर साहब, जगजीवन साहब इत्यादि संतों के गूढ़ धर्म से मिलता है, ब्रह्मांड के ऊपर के पहले तीन स्थान ये हैं— (१) सुन्न (सुरत का आत्मपद), (२) त्रिकुटी (तीन शिखरों का स्थान) और (३) सहस दल कँवल (हजार पंखड़ियों का कँवल)। पहले स्थान का धनी अक्षर पुरुष (अविनाशी देव) है। यहाँ पर उसका संग, ब्रह्म (सर्वव्यापी मन) के सबसे ऊँचे रूप से जिसे 'पुरुष' (यानी देव या धनी) कहते हैं, हुआ। इसी स्थान पर 'पुरुष' यानी ब्रह्म ने अक्षर पुरुष से आवश्यक चैतन्यता प्राप्त कर, प्रकृति (कुदरत) पर

क्रिया की जिसके फलस्वरूप ब्रह्मांड देश की रचना हुई। चूँकि हमने इन स्थानों और इनके धनियों का रचना के भाग में सविस्तार वर्णन किया है, इसलिए यहाँ सिर्फ़ ऊपर वाले शेष दो स्थानों के धनियों के नाम और उनका मनुष्य चोले से संबंधित चक्रों का उल्लेख कर देना चाहते हैं। त्रिकुटी के धनी का नाम ब्रह्म है और उससे नीचे के मंडल के धनी का नाम निरंजन है।

६९—इस प्रकार ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं; क्रम से उनकी संज्ञा अव्याकृत (अव्यक्त यानी अप्रकट), हिरणयगर्भ (स्वर्ण पूर्ण अर्थात् व्यक्त स्रोत रूप) और विराट (व्यक्त स्थूल रूप) हैं। इन्हीं के अनुरूप जीव के भी तीन स्वरूप हैं जो उसकी तीन अवस्थाओं में यानी सुषुप्त अवस्था (अर्द्ध मूर्च्छा या बेहोशी की नींद) स्वप्न अवस्था और जाग्रत अवस्था में पाए जाते हैं। साधारणतः सुषुप्तावस्था में आपे का भान नहीं रहता, इसलिए हमने अपने कथन को प्रमाणित करने के लिए अर्द्ध मूर्च्छावस्था की असाधारण अवस्था का नाम लिया है। अर्द्ध-मूर्च्छावस्था, गहरी नींद के परे की हालत है और इसमें जीव को आपे की ख़बर आ जाती है। जीव के इन तीन स्वरूपों को प्राज्ञ (यानी गहरी नींद की गुप्त चेतनता जो कारण रूप में है), तैजस (स्वप्नावस्था की चेतनता जो सूक्ष्म रूप में है) और विश्व (जाग्रत अवस्था की चेतनता जो स्थूल रूप में है) कहते हैं।

७०—मनुष्य की सुरत और उसका केन्द्र अवश्यमेव जीव के इन तीनों स्वरूपों से पृथक हैं, यद्यपि जीव को चेतनता इन्हीं से प्राप्त होती है। पिंड के ऊपर के जो तीन चक्र हैं, वह जीव के इन तीन स्वरूपों से संपर्क रखते हैं, यह तीन चक्र और तीन स्वरूप, ब्रह्मांड के ऊपर के तीन मंडलों और ब्रह्म के तीन स्वरूपों के प्रतिरूप हैं।

७१—ब्रह्मांडी मन के देश के नीचे के तीन स्थान, तीन गुण अर्थात् संहार, सृजन और पालन गुणों के केन्द्र या मंडल हैं। संहार गुण मल को बाहर निकालता है। उसी को शास्त्रों में "शिव" कहा है जो संहार कार्य का केन्द्र है। भोजन को देह रूप में परिवर्तन करने की शक्ति और फिर उत्पादन करने के गुण का नाम "ब्रह्मा" है। तीसरा यानी पालन गुण "विष्णु" है। वह अन्य दो गुणों को शक्ति और चेतनता प्रदान करता है और उनकी क्रियाओं में उचित संतुलन रखता है।

७२—इन तीनों गुणों की झाँकी प्राणि और अप्राणि दोनों जगतों में देखने को मिलती है। स्नेहाकर्षण की शक्ति, अनेक तत्वों और उनके यौगिकों की बनावट या आकृति की रक्षा करती हैं। वही जड़ खान में पाया जाने वाला पालन गुण है। वर्तमान आकृतियों के ढह जाने के रूप में निरंतर चालू संहार क्रिया तथा विद्युत्कणों के प्रवाह द्वारा विविध वस्तुओं के अणु परमाणुओं का पुनर्गठन, जड़ खान में अन्य दो गुणों अर्थात् संहार और उत्पत्ति के उदाहरण हैं। प्राणि और वनस्पति रचना में इन गुणों की प्रतिबिंबित छाया अधिक स्पष्ट रूप से दिखलाई देती है। ब्रह्मांड के ऊपर के तीन रूपों के छाया का जड़ खान की रचना में पता नहीं लगता क्योंकि सुरत यानी चैतन्य शक्ति जिसके द्वारा कि मानसिक आपा संबंधी क्रियाएँ हो सकती हैं, जड़ खान में सोई हुई या गुप्त अवस्था में रहती है और ऊपर के रूपों का इज़हार सुरत चैतन्य शक्ति की मानसिक और आपे की दशाओं में ही हो सकता है।

७३—प्राणि जगत में गुदा, इन्द्री और नाभि पर के चक्र, तीनों गुणों की कार्रवाई के केन्द्र प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ते हैं। पर वनस्पति रचना में इन तीन गुणों की कार्रवाई किसी कदर कम दर्जे में क्रमशः (१) फूल पत्ती और छाल के झड़ने, (२) बीज बनने और (३) बाढ़ को कायम रखने के रूप में दिखलाई पड़ती है।

७४—ऊपर के हमारे बयान से ब्रह्मांड के छः कँवलों और पिंड के छः चक्रों में पूर्ण रूप से अनुरूपता स्थापित हो जाती है। अब हम निर्मल चैतन्य देश का पता लगाने के लिए आगे बढ़ेंगे जो कि हमारे धार्मिक अनुसंधान का लक्ष्य है।

प्रकरण २१

निर्मल चैतन्य देश

७५—ऊपर के बयान से स्पष्ट है कि पिंडी मन, सुरत चैतन्य के आधीन है। मन को अपनी कार्रवाई के लिए जरूरी शक्ति और समझ बूझ सुरत से ही मिलती है। वह सुरत के अंग संग भी है। यही

बातें ब्रह्मांडी मन के देश को भी लागू हैं। ऊपर के कथनों से यद्यपि मन और सुरत के आंतरिक संबंध पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है, फिर भी इस बात का कि रचना में निर्मल चैतन्य देश की स्थिति कहाँ है, सिर्फ उनसे ही पता नहीं लगता है। इसलिए इस विषय में खोज लगाने के लिए हम और दृष्टिकोणों का अवलंबन करेंगे।

७६—प्रकरण १३ में हम बतला चुके हैं कि विविध सूक्ष्म रूपों सहित स्थूल शरीर के छूटने पर जीव की क्रिया शक्तियाँ तीव्र हो जाती हैं तथा उसे नई नई शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। प्रकरण ९ में यह भी कहा जा चुका है कि मन केवल एक औज़ार है जिसके वसीले सुरत अपनी विविध आंतरिक क्रियाओं को पूरा करती है और सुरत की धार के खिंच जाने पर वह बेकार हो जाता है। इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि सुरत के लिए जिस तरह स्थूल शरीर एक माध्यम है, ठीक उसी तरह पिंडी मन भी सुरत का एक माध्यम है। इसलिए जैसे स्थूल शरीर के माध्यम के पृथक होने से जो फल होते हैं, वैसे ही फल मन के माध्यम से रहित होने पर भी देखने में आवेंगे। फिर विशुद्ध आध्यात्मिक भाँति के व्यापार दृष्टिगोचर होने लगेंगे जिनकी कि प्रतिच्छाया मानसिक व्यापार हैं और इन आध्यात्मिक व्यापारों का व्यापक क्षेत्र, मन के व्यापक क्षेत्र की अपेक्षा, अति विस्तृत होगा। सुरत चैतन्य शक्ति के तीन प्रधान सहज धर्म अर्थात् आद्य शक्ति, ज्ञान और आनन्द फिर तो सुर्त चैतन्य के सर्व व्यापारों में स्पष्ट रूप से प्रतिलक्षित होंगे और दुःख व क्लेश का नामोनिशान न रहेगा। अगर इस नतीजे को ब्रह्मांड पर घटा कर देखा जावे तो, कार्य से कारण की ओर जाने वाला, यह नतीजा निकलेगा कि सर्व व्यापी सुर्त चैतन्य के केन्द्र से ब्रह्मांडी मन का माध्यम हटा दिया जावे तो निर्मल चैतन्य देश दृष्टिगोचर होने लगेगा और फिर हम रचना में अपनी खोज का ठिकाना निश्चित कर सकेंगे। परन्तु असल बात तो कुछ और है क्योंकि उपरोक्त नतीजे से यह नहीं मालूम होता कि ब्रह्म की सृष्टि क्यों हुई और सर्व व्यापी चैतन्य के केन्द्र से उसका सम्बन्ध क्यों हुआ और सम्बन्ध होने पर फिर संबंध विच्छेद की आवश्यकता ही क्यों हुई। इस विषय की विस्तृत विवेचना रचना वाले भाग में की गई

है। फिलहाल संक्षेप में इतना कह देना काफी होगा कि निर्मल चैतन्य देश में भी जो ब्रह्मांड से परे है, छः उप-विभाग हैं। इन्हीं उप-विभागों के फलस्वरूप जब विशुद्ध चैतन्य शक्ति का संघट्ट ब्रह्मांड देश के साथ हुआ तो उसमें भी वैसे ही छः उप-विभाग उत्पन्न हो गये।

प्रकरण २२

मनुष्य-शरीर और कुल रचना में परस्पर अनुरूपता और समागम

७७—मनुष्य शरीर रूपी लघु-विश्व में अवस्थित रंध्रों द्वारा उसका बृहत्-विश्व यानी कुल रचना से सम्बन्ध स्थापित होता है। परस्पर समागम के लिए मुख्य चीज़ सुरत की धार या ज्ञानवाह धार है जो कि इन रंध्रों में व्याप्त है। बृहत् विश्व से सम्बन्ध और सम्बन्ध होने पर उसका प्रत्यक्ष बोध या ज्ञान, निम्नांकित रीति से होता है।

७८—पहले हम स्पर्शेन्द्रिय के विषय में विचार करेंगे। इस भौतिक पिंड का दैहिक उपादान द्रव्य ही इस इन्द्रिय के ज्ञान का साधन है और जब उस पर कोई क्रिया होती है, तब स्पर्श का ज्ञान होता है, चाहे वह प्रिय हो या अप्रिय। "दैहिक उपादान" शब्द पूर्ण व्यापक अर्थ में लिया गया है अर्थात् उसमें माँस, चर्म, पट्ठा, अस्थि इत्यादि सब आ जाते हैं। जब इस साधन पर कोई क्रिया होती है, तब उसकी ख़बर अंतर में ज्ञानवाह धारों द्वारा जो कि उसके रंध्रों में सर्वत्र उपस्थित पाई जाती हैं, पहुँचती है। यदि ये छिद्र बन्द कर दिए जायँ या उनमें से ज्ञानवाह धारें हटा ली जायँ तो स्पर्श का कोई ज्ञान नहीं होगा।

७९—अन्य ज्ञान इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी ऐसी ही क्रिया होती है। हर एक ज्ञानेन्द्रिय का अपना अपना एक विशिष्ट साधन होता है और जिस इन्द्रिय विषय का ज्ञान किया जाता है, उसका तत्व उस साधन में भी मौजूद रहता है। उस तत्व के साथ ज्ञानवाह धारों का सम्बन्ध रहता है। उदाहरणार्थ दृष्टि इन्द्रिय को लीजिये। चक्षु नाड़ी में प्रकाश तत्व मौजूद है जो कि दृष्टीन्द्रिय का अपना विशिष्ट तत्व

है, इसके द्वारा ही बाहर के प्रकाश से समागम होता है और उसका ज्ञान प्राप्त होता है। इस कथन को और अच्छी तरह समझने के लिए दृष्टीन्द्रिय पर रोशनी का जो असर पड़ता है, उसका हम विश्लेषण करेंगे। रोशनी आँख के ताल में से गुज़र कर चक्षु पट पर बाहर की चीजों के प्रतिबिंब बनाती है। इन प्रतिबिंबों का बोध तत्पश्चात् चक्षु नाड़ी और उसमें विद्यमान ज्ञानवाह धारों द्वारा होता है। चक्षु नाड़ी में स्फुर तत्व का अंग होने से उसमें प्रकाश तत्व होता है जिसके द्वारा बाहर के प्रकाश से संबंध या समागम स्थापित हो जाता है। इसके बाद प्रत्यक्ष बोध की क्रिया ज्ञानवाह धारों द्वारा पूर्ण हो जाती है।

८०—आवश्यक परिवर्तन के साथ उपरोक्त वर्णन अन्य ज्ञानेन्द्रियों के विषय में भी सत्य ठहरता है। (तृतीय भाग, प्रकरण ९७ में इस विषय का विस्तृत विवेचन देखिये)

८१—एतदर्थ नियम हुआ कि बृहत्-विश्व के अंतर्गत द्रव्यों और शक्तियों का प्रत्यक्ष बोध प्राप्त करने के लिए, उनके सदृश्य, लघु-विश्व यानी मानव पिंड के यथोचित रंध्रों पर स्थित द्रव्यों और शक्तियों के साथ सुरत चैतन्य की धार द्वारा मेल होना चाहिये। रचना के भिन्न भिन्न मंडलों में उनसे संबंधित ज्ञान केन्द्रों द्वारा सुरत का आना जाना, गति या समागम उपरोक्त नियमानुसार स्थापित होता है। तथापि यह गति प्राप्त करने के लिए विशिष्ट शिक्षण क्रम की आवश्यकता है क्योंकि केवल ऐसे ही शिक्षण से नाड़ी या ज्ञान केन्द्रों के भीतर से भीतर रक्खी हुई कार्य शक्तियाँ जो साधारणतः सोई हुई अवस्था में रहती हैं, जगाई जा सकती हैं और जगा कर उनको ऐसी अवस्था में लाया जा सकता है कि जिससे रचना या रचना के किसी देश या मंडल से सम्बन्ध स्थापित किया जाना संभव हो सके।

८२—बृहद्-रचना में सब से नीचे के स्थान का अधिष्ठाता देवता गणेश है जो शिव या संहारक गुण का पुत्र है। इस स्थान से सम्बन्धित सब से नीचे के चक्र या नाड़ी केन्द्र के भीतरी रंध्र और उसकी कार्य शक्तियों को जगाया जाय तो गणेश और उसके लोक से सम्बन्ध स्थापित हो जायगा और अभ्यासी को किसी हद तक गणेश की कार्य-क्षमता और अधिकार प्राप्त हो जावेगा। ठीक इसी प्रकार शरीर या मानवीय पिंड के शेष पाँच चक्रों का बाहर में बृहत् पिंड के पाँच मंडलों से सम्बन्ध क़ायम हो सकता है। रचना के उस हिस्से में

जो हमें दृष्टिगोचर हो रहा है और जिसमें सूर्य व अन्य ग्रह तारे इत्यादि स्थित हैं, छः मुख्य उप-विभाग या मंडल अथवा लोक हैं। वे मनुष्य शरीर के पूर्वोक्त छः चक्रों से संबंध रखते हैं।

८३—रचना के इस हिस्से के परे ब्रह्मांडी मन का देश है जो स्थूल या भौतिक इन्द्रियों या उनके द्वारा व्यवहृत उपकरणों से नहीं जाना जा सकता। रचना के इन विभागों और निर्मल चैतन्य देश का विवरण तृतीय भाग में बड़े विस्तार से दिया गया है। यहाँ हम सिर्फ इतना ही समझावेंगे कि किस प्रकार ब्रह्मांड और निर्मल चैतन्य देश से संबंध कायम किया जा सकता है।

प्रकरण २३

मस्तिष्क और उसके व्यापार

८४—मानवीय शरीर की बनावट में दिमाग़, शरीर का सबसे अधिक अद्भुत अंग है। मगर इसके भिन्न भिन्न हिस्सों के क्या क्या काम हैं, भली भाँति समझ में नहीं आए हैं। यह बेशक सच है कि मस्तिष्क के भिन्न भिन्न भागों की क्रियायें जो शरीर के निचले भागों के संचालन के संबंध में होती हैं, मालूम कर ली गयी हैं। उदाहरणार्थ—मस्तिष्क का एक भाग, बोलने की शक्ति का केन्द्र है; एक दूसरा वह केन्द्र है जिससे चलना फिरना नियंत्रित होता है, इत्यादि इत्यादि। मगर जो कुछ ज्ञान हमें मस्तिष्क के कार्यों का प्राप्त है, वह अत्यंत ऊपरी है और इस विचित्र यंत्र की उत्कृष्ट रचना की प्रतिष्ठा के सामने बिल्कुल तुच्छ है। इस कथन के समर्थन में नीचे लिखे विचार रक्खे जाते हैं।

८५—किसी व्यक्ति पर लय अवस्था छा जाती है अथवा शीशी (क्लोरोफ़ार्म) सुँघाने से बेहोश हो जाता है। शेष स्थूल शरीर की तरह दिमाग़ का मसाला (भूरा और सफेद दोनों) भी जिससे कि नीचे के नाड़ी केन्द्र या वात केन्द्र अथवा चक्र पैदा हुए हैं, अचेत हो जाता है। इससे हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि सुरत की बैठक दिमाग के माद्दे

या मसाले में नहीं है और सुरत का केन्द्र दिमाग के मसाले की सतह के अतिरिक्त किसी बिल्कुल भिन्न सतह पर है। दूसरा नतीजा यह निकलता है कि ज्ञानवाह कार्य का स्तर भी मस्तिष्कीय स्तर से कहीं भिन्न है।

८६—नीचे की श्रेणी के प्राणियों में दिमाग की कार्रवाई स्पष्ट रीति से कम होती चली गई है, यहाँ तक कि एक अवस्था ऐसी आ जाती है कि प्राणी अपने जीवन के लिये दिमाग से बिल्कुल स्वतंत्र हो जाता है। रचना की जीवन श्रेणी में और अधिक नीचे उतरने से मस्तिष्क का कोई निशान ही नहीं रह जाता। मगर फिर भी भोजन को अंग लगाने की क्रिया तथा साथ ही साथ होने वाले जीवन के अन्य कार्य बराबर चलते रहते हैं। वनस्पति जगत में नाड़ियां और ज्ञान ग्रन्थियाँ होती ही नहीं, परन्तु फिर भी पेड़ पौधों में बढ़ने और पोषण की कार्रवाइयाँ होती ही हैं।

८७—इससे साफ ज़ाहिर है कि नाडियाँ, नाड़ी केन्द्र और मस्तिष्क जो कि मानो नाड़ियों द्वारा प्रवाहित मस्तिष्कीय शक्ति का कोश है, स्थूल शरीर की वृद्धि और पालन पोषण के कार्यों से भिन्न कोई अन्य महत्वपूर्ण कार्य रखते हैं। वे कार्य मानसिक हैं। उनकी दो मुख्य शाखाएँ, ज्ञान और संकल्प हैं।

८८—ज्ञान और संकल्प की शक्तियाँ अपना काम करने के लिए सदैव नाड़ियों या तंतुओं इत्यादि पर अवलम्बित नहीं रहतीं। यह बात देह हीन प्रेतात्माओं में स्पष्ट दृष्टिगोचर या सिद्ध है। (प्रकरण ११ और १३ देखिये) लय या अर्द्ध मूर्छा की अवस्था में ज्ञान या नाड़ियों इत्यादि की क्रियाएँ बंद हो जाती हैं और इस अवस्था में कभी कभी ऐसी शक्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं जो मनुष्य की प्रकृत अवस्था में साधारणतः नहीं देखने में आतीं। इससे भी उपर्युक्त कथन का समर्थन होता है।

८९—इन अलौकिक शक्तियों से स्पष्टतया सूचित होता है कि नर चोले में ऐसी गुप्त शक्तियाँ रक्खी हैं कि अगर उनको विधि पूर्वक अभ्यास करके जगाया जावे तो जो कार्य-क्षमता विदेह या प्रेतात्माओं और उन से भी ऊंची योनियों को प्राप्त है, अभ्यासी को प्राप्त

हो सकती है। दूसरे के मन के भावों को जान लेना और अगम्य स्थानों से चीजें मँगा लेना, ये ऐसी मिसालें हैं जिनसे हमारी ऊपर कही हुई बात प्रमाणित होती है। ये दृष्टांत दूसरे प्रकार से भी शिक्षाप्रद हैं। वे प्रमाणित करते हैं कि मानवीय आभ्यान्तरिक चेतन व्यवस्था का क्षेत्र हम लोगों की कल्पना से कहीं अधिक विस्तृत है। जैसा हम अभी नीचे बतलावेंगे, इन निरीक्षणों से हमें पिंडी शरीर के रहस्यों को जानने का सूत्र हाथ लगता है।

९०—स्नायु या वात संस्थान समेत इस नर चोले में साधारणतः तीन प्रकार के कार्य पाए जाते हैं, जीवन प्रदान, जीवन पोषण और उस पर की हुई क्रियाओं की प्रतिक्रिया के कार्य्य। इस कथन में मोटे तौर पर मनुष्य जीवन की सब मामूली शारीरिक और मानसिक अवस्थाएँ आ जाती है। वात संस्थान के जिन स्तरों पर ये कार्य्य घटित होते हैं, उनके आधारभूत सूक्ष्मतर स्तर हैं और प्रत्येक वात केन्द्र, मध्य के मध्य भाग द्वारा, अपने अपने विशिष्ट सूक्ष्म स्तर से संबन्धित है। जब वात या ज्ञान केन्द्रों द्वारा उन सूक्ष्म स्तरों पर क्रिया की जाती है या उनके घाट जगाए जाते हैं, तब उनसे संबंध रखने वाले लोकों से संबंध स्थापित हो जाता है और उनके धनियों या देवताओं की शक्तियाँ अभ्यासी में आ समाती हैं।

९१—इसी प्रकार मस्तिष्क भी जिससे नीचे के वात केन्द्र या चक्र पैदा हुये हैं, बहुत सूक्ष्म स्तरों या घाटों से संबंधित हैं। ये स्तर इस दृष्टिगोचर रचना के भाग या अंग नहीं हैं। वे इसके परे के हैं। उनका संबंध रचना के ऊँचे देशों से यानी ब्रह्मांडी मन के देशों से और निरमल सुरत चैतन्य के भंडार यानी सच्चे परम पुरुष कुल-मालिक के देशों से है। दिमाग़ के भीतर के इन घाटों या कँवलों या पदमों की गुप्त शक्तियों को जगाने से ब्रह्म और कुल्ल कर्त्तार से मेल स्थापित हो सकता है। मस्तिष्क के इस विशिष्ट कार्य के कारण ही इस लघु विश्व की व्यवस्था के अन्तर्गत इस इन्द्रिय यानी दिमाग की परम महत्ता है। अब हम बतलावेंगे कि उल्लिखित सूक्ष्मतर और उच्चतर स्तर दिमाग़ के किस किस भाग से संबंधित हैं।

प्रकरण २४

मस्तिष्क और उसके रंध्र

९२—वृहत्-मस्तिष्क के दोनों लोथरों या गोल पिंडों के बीच की दरार में बारह रंध्र हैं जो ब्रह्मांड के छःओं स्थानों और निरमल चैतन्य देश के छःओं स्थानों में गति पाने के द्वारे हैं। ब्रह्मांड से ताल्लुक रखने वाले सूराख़ दिमाग़ के भूरे द्रव्य में हैं और निरमल चैतन्य देश से सम्बन्ध रखने वाले छिद्र सफ़ेद द्रव्य में। दिमाग़ के माद्दे की, चाहे वह भूरा हो या सफ़ेद, कोई विशेष महत्ता नहीं है। बड़ी महत्ता उनके भीतर स्थित अंतरतम प्रदेशों की है जिनके द्वारा शरीर यानी पिंड का ब्रह्मांड और निरमल चैतन्य देश से सिलसिला क़ायम होता है और वे हमारी तहक़ीक़ात के लिए अत्यंत आवश्यक हैं। हमारे कहने का तात्पर्य नीचे दिए हुए एक मोटे दृष्टांत से समझ में आ जावेगा।

९३—किसी अंधेरे कमरे की दीवार में एक लम्बा सकरा छिद्र है जिसमें से सूर्य की किरने अंदर आती हैं। यह सूराख़ ख़ुद दीवार के मसाले का बना हुआ नहीं है, केवल दीवार में उसकी स्थिति मात्र है। उस कमरे के अंदर स्थित किसी आदमी को उस छिद्र में से आती हुई किरणों से संबंध स्थापित करने के लिए उस छिद्र का आश्रय लेना पड़ेगा और उससे बाहर निकलने के लिए उसे अपने को किरणों के समान सूक्ष्म बनाना होगा जिससे उन (किरणों) पर आरूढ़ होकर बाहर निकल सके। इसी प्रकार ऊँचे देशों से संबंध स्थापित करने और ब्रह्मांड व उसके परे जाने के लिए दिमाग़ के छिद्रों के अंतरतम प्रदेशों का आश्रय लेना होगा। अवश्यमेव उपरोक्त स्पष्टीकरण यद्यपि ऊँचे आसन से निःसृत आदेश के रूप में है, तथापि उसकी पूरी पूरी जाँच परीक्षाओं द्वारा अर्थात् मस्तिष्क में स्थित कँवलों या पदमों को निर्दिष्ट उपासना विधि द्वारा जगाने से की जा सकती है।

प्रकरण २५

अभ्यास करने से चेतनता बढ़ती है

९४—यहाँ हम यह कह देना चाहते हैं कि उच्चतर चैतन्य देशों में गति प्राप्त करने की जो उपासना विधि या प्रयोगात्मक अभ्यास हैं,

उनसे चेतनता बढ़ती है और अभ्यासी में उच्चतर लोकों या देशों की चैतन्यता या आध्यात्मिक शक्ति भरने लगती है। इस प्रकार चैतन्यता की वृद्धि से शरीर को लाभ पहुंचता है, अन्ततः जब अभ्यासी अभ्यास के समय अंतर में खिंचाव व सिमटाव की हालत में होता है, उस वक्त केवल उसका भास ही देह की सब कार्रवाईयों को जारी रखने के लिए पर्याप्त होता है। इस कथन का समर्थन सूर्य के भास के दृष्टान्त से जो सभी कृत्रिम प्रकाशों से अधिक तेज़ होता है, हो जाता है।

९५—विधि पूर्वक अभ्यास के समय अभ्यासी बा-होश रहता है यानी जो कुछ कि उसके अंतर में और बाहर घटित होता रहता है, सब का उसे पता रहता है। यहाँ तक कि मृत्यु के घाट पर पहुँचने पर भी उसका होश दुरुस्त रहता है। इस घाट तक पहुँचने पर तथा उसके पश्चात् भी अभ्यासी का अपने स्थूल शरीर से संबंध कमोबेश उसी तरह का रहता है जैसे कि प्रेत का उस शरीर से जिसमें उसका आवेश हो।

भाग २

सुरत चैतन्य के जगाने, बढ़ाने और चढ़ाने की रीतियाँ

प्रकरण २६

रूहानी तरक़्क़ी यानी सुरत चैतन्य को जगाना वा बढ़ाना

९६—अखिल विश्व और नर शरीर के बीच जो समानता है उसका दिग्दर्शन अब हम पूर्ण कर चुके हैं। मनुष्य देह में सुरत की बैठक किस स्थान पर है और वह देश जहाँ पहुंच कर उसको परम और अमर आनन्द प्राप्त होगा, इन बातों का भी निश्चय हो चुका है। ऐसे धाम में पहुँचने व रास्ते की मंज़िलों व मंडलों को तै करने के साधन व जुक्तियाँ मालूम करना बाक़ी रह गया है। उनका विवरण नीचे दिया गया है।

९७—इस रास्ते पर चलना शुरू करने के लिए पहला क़दम सुरत चैतन्य की अंतर्निहित शक्तियों को उन्नत करना है। तभी उसमें चैतन्य देश में पहुँचने की आवश्यक क्षमता प्राप्त होगी। जब से सुरत रचना के मायिक देशों में उतर कर आई है, उस पर जो संस्कार बराबर पड़ते गये हैं और उनकी प्रतिक्रिया रूप में जो कार्रवाई कि उससे बनती चली आ रही है, वह सब मायिक अथवा नीचे के देशों से संबंध रखने वाली है। इसलिए उसकी बहिरमुख धाराओं को अर्थात् मन

और माया की धाराओं को तो क्रियाशील शक्ति व पुष्टता प्राप्त होती आई है, पर अंतरमुख चैतन्य शक्ति सोई हुई ही पड़ी है। सुरत की बहिरमुख धारों पर अंकित संस्कारों की भाँति यदि उसके केन्द्र पर यानी अंतरमुख अंग पर भीतर ही भीतर संस्कार अंकित किए जावें तो उसकी सोई हुई शक्तियाँ जाग्रत हो जावें और उस सुरत चैतन्य को ऊपर के देशों की ओर चलना आरम्भ करने के लिए आवश्यक प्रोत्साहन और शक्ति प्राप्त हो जावे।

प्रकरण २७

श्रवण, दृष्टि और वाणी

जीवित रहने के लिए परम आवश्यक गुण

९८—सुरत चैतन्य के सिमटाव या उसे बढ़ाने और उसको ऊपर के देशों में चढ़ाने की जुक्तियों[1] के मूल सिद्धान्तों का विवरण देने से पहले हम मुख्य विषय से अन्य एक बात का वर्णन करेंगे जिसका उद्देश्य उक्त विवरण का ही सुस्पष्ट बोध कराना होगा।

९९—दुनिया और उसके पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने और अपने ज्ञान या अनुभवों को प्रकट करने के मुख्य साधन श्रवण, दृष्टि और वाणी की इन्द्रियां हैं। इस तरह ये भौतिक शरीर की आवश्यकताओं को पूरा करने के आरम्भिक साधन हैं। और अगर ये तीन इन्द्रियां बेकार हो जावें तो मानसिक शक्तियाँ लुप्त हो जावेंगी या उनमें बहुत बिगाड़ पैदा हो जावेगा और ज़िन्दगी थोड़ी रह जावेगी।

१००—यही बातें सूक्ष्म और ऊँचे घाट की इन्द्रियों और मानसिक क्रियाओं को भी लागू हैं। पर चूँकि स्थूल शरीर के पालन में वे क्रियात्मक रूप से कोई भाग नहीं लेती हैं, इसलिए उनकी निष्क्रिय अवस्था का इस भौतिक जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। चूँकि इस लघु-विश्व यानी नर शरीर में इन क्रियाओं का किसी भी रूप में नियमित या अनियमित अभ्यास नहीं होता, इसलिए वे सोई

१ अभ्यास की जुक्तियां तो उपदेश यानी दीक्षा के समय ही बतलाई जाती हैं, जबकि उपदेश लेने वाला सब शर्तें मंजूर कर लेता है जिनका ज़िक्र प्रकरण ७४ में किया गया है।

हुई रहती हैं और वह उद्देश्य जिसके लिए वे नर देह में रक्खी गई हैं, पूरा नहीं होने पाता।

१०१—हम जिस धार्मिक मार्ग का निरूपण कर रहे हैं उसमें जो उपासना की विधियां और साधना की क्रियाएँ मुक़र्रर हैं, वे इन तीनों क्रियाओं में से प्रत्येक को जगाने यानी विकसित और पोढ़ करने के आध्यात्मिक अभ्यास के भिन्न भिन्न तीन रूप हैं। (१) सुरत चैतन्य द्वारा नाम का सुमिरन, (२) चैतन्य स्वरूप का ध्यान, और (३) एकाग्र चित्त हो चैतन्य शब्द का श्रवण।

१०२—चूँकि जब प्रेतात्माओं की छाया स्थूल रूप में नज़र आती है तब वे इन तीनों उक्त क्रियाओं को करती दिखाई पड़ती हैं, तो ज़रूर उनमें वही तीनों शक्तियाँ और अधिक सूक्ष्म रूप में तीव्रतर मौजूद हैं। इन्हीं सूक्ष्म शक्तियों द्वारा ही तो उनको उन वृत्तों या वृत्तान्तों की ख़बर पड़ जाती है जो हमारी इन स्थूल इन्द्रियों के क्षेत्र से परे हैं। इससे मालूम हुआ कि श्रवण, दृष्टि और वाणी की क्रियाएँ केवल उन स्थूल शरीर के घाटों पर ही नहीं ख़तम हो जाती हैं जिनसे हम वाक़िफ़ हैं, बल्कि स्थूल शरीर के घाटों की अपेक्षा सूक्ष्म व सूक्ष्मतर घाटों पर उनका हलक़ा और ज़्यादा बड़ा है। लिहाजा रूहानी अभ्यास के तरीक़े, जिनका अब ज़िक्र किया जायगा, महज़ ख़याली नहीं हैं और जिस प्रकार सायंस के सिद्धांन्तों की जाँच की जाती है उसी प्रकार इनकी भी परीक्षा करनी चाहिए।

प्रकरण २८

त्रिविध परिमाणयुक्त भिन्न भिन्न लोकों की अपनी अपनी रचना करने वाली शक्ति भिन्न भिन्न है जिसका अपना प्रभाव अपने ही मंडल तक सीमित है, उसका अतिक्रमण नहीं होता।

१०३—रचना की व्यवस्था में प्रत्येक परिमाणत्रय एक दूसरे से इस प्रकार से पृथक है कि उसमें रचना करने वाली अपनी अपनी विशिष्ट उग्रता और सूक्ष्मता की शक्तियाँ एक परिमाणत्रय से दूसरे परिमाणत्रय पर कोई प्रभाव नहीं करतीं। [कहने का तात्पर्य्य यह है

कि प्रत्येक लोक, मंडल या घाट की रचना करने वाली शक्तियाँ अपने अपने क्षेत्र तक ही सीमित हैं ; वे चाहे कितनी ही प्रबल व सूक्ष्म क्यों न हों, दूसरे क्षेत्रों को (वे शक्तियाँ) प्रभावित नहीं करतीं।] अगर इस तरह का इन्तज़ाम न होता तो सिलसिलेवार ऊंच-नीच दरजों की रचना न हो सकती थी और फिर ऊंचे मंडलों की शक्तियों का नीचे मंडलों पर उतार होने से वही दशा होती जो बिजली के प्रवाह में रुकावट पैदा होने से होती है । तीसरे भाग यानी रचना के बयान में यह अच्छी तरह समझाया गया है कि तीन-तीन परिमाणों के भिन्न भिन्न समूह किस प्रकार एक दूसरे से अलग हैं और उनका आपस में क्या संबंध है। यहाँ इसकी चर्चा करने का हमारा सिर्फ यही अभिप्राय है कि याद रहे कि रचना करने वाली अमित प्रबल शक्तियों की जो ऐसे घाटों में से होकर काम कर रही हैं जिनका मामूली तौर पर हमको पता नहीं है, अवहेलना नहीं की जानी चाहिए । तीसरे भाग में जैसा कि बतलाया गया है, इन शक्तियों के साथ साथ बड़े घोर शब्द हो रहे हैं जिनका अभ्यासी पर जब कि उसके श्रवण की सूक्ष्म शक्तियाँ काफ़ी जाग जायँ, भारी असर होता है। शब्द दो प्रकार के हैं—

(१) रूहानी यानी ऊपर का चैतन्य शब्द जिसकी प्रवृत्ति अन्तरमुख है और जो अन्दर की ओर आकर्षण करता है।

(२) मन और माया का शब्द जिसका रुख़ पहली क़िस्म के शब्दों से उलटा है। (अच्छी तरह समझने के लिए प्रकरण ६४ देखिए)

प्रकरण २९

शब्द, वाच्य है उस शक्ति का जिससे कि वह पैदा होता है

१०४—यहाँ यह कह देना उचित समझा जाता है कि प्रत्येक शब्द में कमोबेश उस शक्ति के ख़वास और गुण जिससे वह पैदा होता है, मौजूद रहते हैं। मसलन उस आवाज़ को लीजिए जो बारूद या अन्य किसी बहुत ज़ोर से उड़ जाने या फट जाने वाली चीज़ से पैदा होती है। जब धमाका होता है, तब फ़ौरन एक ही जगह पर बहुत

मिक़दार में गैस (हवा) पैदा होती है। नतीजा यह होता है कि आसपास के वायु मंडल में एक बारगी बड़े ज़ोर का धक्का लगता है। धक्के की यह आकस्मिकता और प्रचण्डता उस धमाके का एक मुख्य अंग है और धमाके के साथ जो आवाज़ होती है, वह अचूक रीति से उस अंग को सूचित करने वाली है।

१०५—सुउच्चारित शब्दों अर्थात् ध्वनियों के विषय में भी यही सिद्धान्त सत्य उतरता है। जो शब्द जिन मानसिक अवस्थाओं के कारण उत्पन्न होता है, उसमें उनकी झलक रहती है और इस ढंग से उत्पन्न हृदय के भावों का तारतम्य भी उनके जनक प्रेरक की प्रचंडता और प्रकृति के तारतम्य का अनुसरण करता है। पशु जगत में जहाँ कि चैतन्यता नीची श्रेणी की होती है, उनके द्वारा प्रकट किए हुए शब्दों से सिर्फ उनके प्रारंभिक मनोभावों की ही सूचना पाई जाती है। पर मनुष्य अपने स्वर के उतार चढ़ाव से यानी स्वर-भेद या लहजे को बदल कर उच्च कोटि की बुद्धि का परिचय देने वाले भावों और सुन्दर कल्पनाओं तथा सुन्दर दृश्य और रूपों को व्यक्त कर सकता है। बुद्धि सामर्थ्य वाले मनुष्य के वाक्यों का जो प्रभाव पड़ता है, उससे उपर्युक्त कथन की स्पष्टतया पुष्टि होती है। साधारण मनुष्यों में भी देखा जाता है कि वे प्रबल मनोविकारों और भावों और उद्वेगों के वश होकर ऐसी भाषा और स्वर में अपने मनोगत भाव प्रकट करते हैं कि उनको पहचानने में कोई ग़लती नहीं हो सकती। बच्चे के प्रति माता की कोमल प्रेमार्द्र वाणी, मृत्यु शोक से उत्पन्न विलाप, योद्धाओं का सिंहनाद, ये सब इस बात के उदाहरण हैं कि किस प्रकार सूच्चारित बोली में हृदयगत कोमल भावों का समावेश रहता है।

१०६—जब तुच्छ मनुष्य जाति में शब्द द्वारा इतने ज़बरदस्त असर पैदा करने की सामर्थ्य है तो कितना बड़ा भारी आध्यात्मिक प्रभाव उस शब्द का होना चाहिए जो कि रचना के आरंभ में आदि शक्ति के प्रथम विस्फोट अर्थात् चैतन्य शक्ति के साथ हुआ।

प्रकरण ३०

चैतन्य शब्द की गति की दिशा हमेशा अंतरमुख होती है

१०७—ऐसे उदाहरणों में धमाके से मामूली तौर पर हम लोग यही समझते हैं कि शक्ति का वाह्य ओर को कुछ प्रवाह, केन्द्र से परिधि की ओर, होता है । मगर हमने 'धमाके' शब्द का प्रयोग दूसरे मतलब में किया है। चैतन्य के धमाके से अभिप्राय है कि आद्य अथवा प्रथम शक्ति जो कि पहले गुप्त थी, वह प्रकट हो गई। चूँकि चैतन्य शक्ति की क्रिया अंतरमुख है और उसमें आकर्षण है, इसलिये उसके प्रकाश में आने के साथ जो शब्द हुआ, उसका प्रभाव भी अन्तरमुख और आकर्षण करने वाला होना चाहिए। इस सर्वप्रथम विस्फोट की अपनी छाप कुल रूहानी आवाज़ों या चैतन्य शब्दों में मौजूद है और इस तरह वे भी उन्हीं उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न हैं। इसलिए उनको सुनने वाले की सुरत अन्तर में बड़े ज़ोर से खिंचती है। इन शब्दों के सुनने का अभ्यास नियमित रूप से किया जावे तो जिन चैतन्य घाटों से कि वे शब्द आ रहे हैं, उनकी तरफ जीव सुरत का खिंचाव या चढ़ाव होगा। इस प्रकार शब्द अभ्यास सुरत को ऊपर चढ़ाने की निश्चित विधि है। मगर ये चैतन्य शब्द बड़े झीने और सूक्ष्म होते हैं और इसलिए जब तक कि नीचे वर्णन की हुई दो रीतियों से सुरत की सोई हुई शक्तियाँ कुछ अंश तक न जगा ली जावें, तब तक ये शब्द उचित रीति से नहीं सुने जा सकते। ऊँचे स्थानों के वास्तविक चैतन्य शब्दों का सुनना पारमार्थिक साधन या आध्यात्मिक शिक्षण की बहुत आगे की मंजिल है। मगर इस वजह से शब्द अभ्यास को बहुत दिनों तक मुल्तवी रखने की ज़रुरत नहीं है। डेढ़ दो महीने नाम का सुमिरन और ध्यान का अभ्यास कर लेने पर शब्द का अभ्यास शुरु कर दिया जाता है। आध्यात्मिक सुमिरन और ध्यान की विधियाँ नीचे समझाई जाती हैं।

प्रकरण ३१

ध्यान की प्रचलित विधियाँ शुद्ध रूप से आध्यात्मिक नहीं हैं

१०८—रचना को मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा जा सकता है, चेतन और जड़। चूँकि इस संसार में सजीव सृष्टि में मनुष्य का स्वरूप सब से उच्च और उत्तम है, इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि मनुष्य स्वरूप का ध्यान ही सर्वोच्च चैतन्य स्वरूप का ध्यान है। मगर यह ठीक नहीं है। मनुष्य की बुद्धि केवल जाग्रत अवस्था में ही काम करती है। स्वप्नावस्था में यह बुद्धि कल्पनाओं के वशीभूत है और सुषुप्ति के निकट पहुंचते पहुंचते यह बिल्कुल ग़ायब हो जाती है। इसलिए मनुष्य के रूप का ध्यान करना निरमल चैतन्य स्वरूप का ध्यान नहीं, बल्कि एक ऐसे स्थूल रूप का ध्यान है जिसकी बुद्धि व ज्ञान सीमित हैं।

१०९—अगर हम कुल्ल-मालिक को आकाशवत् सर्व व्यापक और सब जगह फैला हुआ मान कर उसके व्यापक रूप का ध्यान करें तो यह भी निर्मल चैतन्य स्वरूप का ध्यान न होगा क्योंकि वह सिर्फ स्थूल जगत में प्राप्त अनुभवों के आधार पर अवलंबित एक मानसिक कल्पना का ही तो ध्यान है।

प्रकरण ३२

मन के सर्व भावों की छाया चेहरे पर पड़ती है

११०—असली निर्मल चैतन्य स्वरूप का ध्यान कैसा होता है, वर्णन करने के पहले स्पष्ट बोधार्थ कुछ थोड़ा विषयान्तर करना आवश्यक है। प्रकरण २० में कहा जा चुका है कि हृदय में जिन भावों का प्राबल्य रहता है, उनका प्रतिबिम्ब चेहरे पर पड़ता है और बार बार पड़ने से वह स्पष्ट रूप से अंकित हो जाता है। यह बात केवल प्रबल भावों ही के लिए सीमित नहीं, बल्कि सभी प्रकार के भावों के लिये कुछ न कुछ अंश में उपयुक्त है। साधारणतः प्रबल भाव ही चेहरे पर अंकित दिखाई देते हैं। मगर अनुभवी और बुद्धिमान मनुष्य मुख

की आकृति और बनावट इत्यादि देखकर अर्थात् मुख पर अंकित चिन्हों द्वारा किसी व्यक्ति के स्वभाव और प्रकृति तथा उसके हृदय के गुप्त भावों को भी जान सकते हैं। इससे हमारा उपर्युक्त वक्तव्य प्रमाणित हो जाता है और अब हम अपने विषय की ओर प्रवृत्त होते हैं।

प्रकरण ३३

चेहरे पर अंकित भावों को देखकर देखने वाले में भी वैसे ही भाव उत्पन्न होते हैं

१११—जिस प्रकार किसी के शब्दों द्वारा प्रकट मन के भावों के अनुरूप हमारे मन में भाव उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार किसी के मुख की विलक्षण आकृति और मुख मुद्रा की प्रतिक्रिया हम पर होती है। इस बात के अनेक दृष्टांत दिये जा सकते हैं। दो प्रेमियों की मुख मुद्रा व इंगित द्वारा परस्पर प्रेममय प्रतिक्रिया, नाटकों में विदूषकों की मुख मुद्रा, इंगित आदि द्वारा जनित हास विनोद आदि ऐसे उदाहरण हैं जिनसे हमारा कथन पुष्ट होता है। ऐसी बातों के मनन करने से अर्थात् ऊपर में व्यक्त भावों का स्मरण करने से भी सदृश भाव हृदय में उत्पन्न हो जाते हैं। परमार्थी भाव और उमंग जगाने के लिए नियमित रूप से ऐसे भावों का हृदय में उत्पन्न करना व चिंतवन करना पारिभाषिक शब्दों में चैतन्य का यानी आध्यात्मिक ध्यान है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि केवल निर्मल चैतन्य स्वरूप से ही परमार्थी भाव और उमंग पैदा होंगे। अब हम ऐसे निर्मल चैतन्य स्वरूप के विषय में अनुसंधान करेंगे। अनेक दर्जों और श्रेणियों के गति वाले या पहुँचे हुए पुरुषों अथवा महात्माओं और उनके लक्षणों का वर्णन करना इस अनुसंधान में सहायक होगा। इसलिए अब हम उन्हीं का वर्णन करते हैं।

प्रकरण ३४

पहुँचे हुये पुरुषों की श्रेणियां

११२—इस पुस्तक में जहाँ मनुष्य शरीर और कुल रचना का परस्पर संबंध और मेल बतलाया गया है, वहाँ यह कहा जा चुका है

कि रचना के अनेक स्थानों या मण्डलों से सम्बन्ध उन रंध्रों अथवा छिद्रों द्वारा स्थापित किया जाता है जो दिमाग़ और अन्य चक्रों में बने हुए हैं। जिस व्यक्ति ने पिंड के छः चक्रों को जगा लिया है, वह रचना के तीसरे दर्जे यानी मलीन माया देश का पहुंचा हुआ पुरुष कहलाता है। वह स्वप्न सुषुप्ति और उसके परे ट्रांस अथवा लय अवस्था को पार कर गया, मगर अभी मृत्यु द्वार के पार नहीं पहुंचा है। जो सम्पूर्ण रचना हमको दिखलाई देती है, उससे तथा उसकी सूक्ष्म अवस्थाओं से ऐसा व्यक्ति परिचित हो जाता है।

११३—जो व्यक्ति ब्रह्म यानी ब्रह्मांडी मन के पहले स्थान पर पहुंच गया और जिसने मृत्यु को जीत लिया, योगी कहलाता है। इसी प्रकार वे गतिवान् पुरुष जिनको ब्रह्मांड के दूसरे और तीसरे स्थानों यानी त्रिकुटी और सुन्न में गति प्राप्त हो गई है, क्रमानुसार योगेश्वर और साध अथवा महात्मा कहलाते हैं।

११४—रचना के दूसरे बड़े दर्जे यानी ब्रह्मांड के परे निर्मल चैतन्य देश के स्थानों में जिनकी गति है, वे संत कहलाते हैं। और जो संत निर्मल चैतन्य देश के सबसे ऊँचे स्थान पर जो कि सच्चे कुल्ल-मालिक या कर्त्तार का धाम अथवा चैतन्य का मूल सोत पोत है, पहुँचे हैं, परम संत कहलाते हैं।

प्रकरण ३५

आध्यात्मिक ध्यान

११५—जितना ज़्यादा संक्षोभ या उत्तेजना होगी, हमेशा उतने ही अधिक प्रबल उस मनुष्य के हृदय के भाव और उद्‌गार होंगे। लेकिन तेज़ से तेज़ दर्जे की अकुलाहट जो मनुष्य हृदय में उथल पुथल मचा देती है, उस व्याकुलता के मुक़ाबले में कुछ भी नहीं है जो जाग्रत अवस्था के साधारण घाट से मृत्यु और मृत्यु के परे के स्थानों में सुरत के जाने में होती है। लेकिन चूँकि यह रास्ता अंतर में तै करना पड़ता है, इसलिए उस वक्त जो अवस्था व्यापती है, उसका इज़हार बाहर में इतना प्रबल नहीं मालूम होता जितना कि जाग्रत अवस्था में बाहर के क्षोभ और उत्तेजना की साधारण अवस्थाओं में हुआ करता है।

११६—तो भी मृत्यु से पहले की अवस्था में मांस पेशियों या पट्ठों में बल्कि सारी देह में धीरे धीरे ऐंठन होने लगती है और जब मृत्यु हो जाती है, तब अंतर में जो भयानक भाँज होती है उसकी अचूक छाप उन अंगों पर साफ़ दिखलाई पड़ती है। अंतरमुख आध्यात्मिक प्रयोगों अर्थात् उपासना के अभ्यासों के करने में भी धीरे धीरे ये अवस्थाएँ गुज़रती हैं और तदनुसार अभ्यासी के स्थूल शरीर की पूर्ण काया पलट हो जाती है और उसके रग मंडल यानी वात संस्थान व मांस पेशियों वग़ैरा की बनावट में इस प्रकार का परिवर्तन हो जाता है कि स्थूल देह से सुरत की धारों को अलग करने में अर्थात् मृत्यु द्वार से गुज़रने में फिर किसी प्रकार की प्रतिकूलता या अवरोध पैदा नहीं होता।

११७—यद्यपि इस तरह के काया पलट या परिवर्तन के चिन्ह सूक्ष्म कोषों पर ही अधिक करके प्रकाशित होते हैं, फिर भी ऐसा नहीं है कि स्थूल शरीर पर बाहर में यह चिन्ह बिल्कुल ही प्रकट न हों। बाहर में यह चिन्ह विशेष रूप से सिद्ध पुरुषों या आचार्यों के माथे पर और आँखों में दिखलाई पड़ते हैं और उनका प्रभाव उच्च कोटि के भक्त अनुयायियों पर सुरत के सिमटाव और चढ़ाई के रूप में बहुत अद्भुत पड़ता है।

११८—ब्रह्मांड तक पहुँचे हुये पुरुष इस दृष्टिगोचर रचना के परे हैं और वह अपने मामूली काम काज भी ब्रह्मांड के स्थानों या घाटों से ही करते हैं, इसलिए उनके मुख पर ब्रह्मांड की चैतन्यता का जलवा रहता है। इसी प्रकार संतों और परम संतों के सब कार्य सीधे निर्मल चैतन्य देशों से आई हुई चैतन्य धारों द्वारा होते हैं। इसलिए ब्रह्मांड तक की गति वाले पुरुष या आचार्य के रूप या आकार का चिंतवन करना ब्रह्मान्ड के चैतन्य रूप का ध्यान है और संतों के स्वरूप का ध्यान करना निर्मल चैतन्य स्वरूप का ध्यान है। इसी कारण से, चैतन्य स्वरूप के ध्यान करने का जो उल्लेख हमने किया है उसके लिए, संत या परम संत या उनकी अनुपस्थिति में साध या महात्मा के स्वरूप का ध्यान करने का निर्देश किया गया है।

११९—जिनके प्रति हमारे हृदय में स्नेह है, उनके आकार का बार बार अंतर में चिंतवन होने से क्या असर पैदा होता है, इसका ज़िक्र प्रकरण ३३ में हो चुका है। यही असर जो आचार्य पुरुषों के स्वरूप के बार बार चिंतवन से होता है, अपेक्षाकृत बहुत तीव्रतर होता है क्योंकि इस असर का कारण केवल उनके बाहरी स्वरूप का बार बार चिंतवन ही नहीं है। आचार्यों की गति और पहुंच उन सब सूक्ष्म घाटों या स्थानों पर होती है जिनको उन्होंने पार कर लिया है और जहाँ कि उन्होंने ठेका ले लिया है। इसलिए ज्यों ही कोई इस विधि की उपासना आरम्भ करता है तो उन्हें भक्त द्वारा अपने स्वरूप के ध्यान करने की ख़बर पड़ जाती है और वे उपासक की आवश्यक सहायता करते हैं।

१२०—ध्यान के अभ्यास में सहायता प्रदान करना सदा अप्रत्यक्ष रूप से होता है। किन्तु अभ्यासी भक्त जिसने कुछ अनुभव प्राप्त कर लिया है, सुरत की बैठक के स्थान पर उसे जो सिमटाव होता है, उससे इस सहायता और सम्हाल की परख पहचान कर लेता है। विश्वास और प्रीत प्रतीत दृढ़ करने और नवीन उत्साह उत्पन्न करने के हेतु आचार्य गुरु अपने सूक्ष्म और नूरानी रूप की झलक अभ्यासी को वक्तन फवक्तन दिखलाते रहते हैं।

१२१—यों तो ब्रह्मांड अर्थात् रचना के दूसरे बड़े दर्जे तक की गति वाले आचार्य या गुरु के रूप के ध्यान में निस्संदेह बहुत आध्यात्मिक शक्ति भरी हुई है और चैतन्यता के जगाने में बृहत् अंश में बड़ी सहायता मिलती है, किन्तु जब तक निर्मल चैतन्य देश अर्थात् रचना के पहले बड़े दर्जे के आचार्य या गति वाले पुरुष (संत) के स्वरूप का ध्यान न किया जावेगा, तब तक ब्रह्मांडी मन से अलग होकर निर्मल चैतन्यता का पुष्ट होना संभव नहीं है।

१२२—संत और उन प्रेमी जनों का संग जो उनकी हिदायत और रहनुमाई में आध्यात्मिक अभ्यास कर रहे हों, शुरू में सुरत के जगाने के लिए भी अनिवार्य है क्योंकि आचार्य के व्यक्तित्व का चैतन्यमय प्रभाव बहुत ही विपुल होता है और वह, जिस समय वे सतसंग करा रहे हों अर्थात् आध्यात्मिक शिक्षण का परिचालन कर रहे हों, विशेष

रूप से प्रकट दिखाई पड़ता है। संतों के सतसंग के समय अभ्यासी अपने अन्तर में संत सतगुरु के विराजमान होने का अनुभव करने लगता है और इसीलिए इस प्रकार के सतसंग की बड़ी अनमोल महिमा है। संतों के संग की ज़रूरत और फ़ायदे का ज़िक्र प्रकरण ५६ में पूरे तौर पर किया गया है।

प्रकरण ३६

प्रत्येक वर्ग के आचार्यों की चार श्रेणियाँ

१२३—पूर्व वर्णित प्रत्येक वर्ग के आचार्यों की चार श्रेणियां हैं। (१) सालोक्य अर्थात् किसी लोक में केवल गति प्राप्त होना। (२) सामीप्य अर्थात् उस लोक के धनी या देवता के निकट बासा पाना। इनसे भी बढ़ कर आचार्य की अवस्थाएँ हैं। (३) सारूप्य यानी वहाँ के धनी के रूप को धारण करना अर्थात् एक-रूप हो जाना (४) सायुज्य यानी उस धनी से एकाकार हो जाना अर्थात् एकत्व हो जाना या मिल कर एक हो जाना। इन दो अंतिम अवस्थाओं को प्राप्त आचार्य अपनी इच्छानुसार उस धनी से विलग हो सकता है।

१२४—ऊपर के बयान से यह स्पष्ट है कि जिस अन्तिम स्थान तक किसी आचार्य ने गति प्राप्त की है, उसके नीचे के सब स्थानों की चारों गतियाँ उसको ज़रूर प्राप्त होंगी। उदाहरणार्थ योगी पिंड के छःओं चक्रों और ब्रह्मांड के नीचे के तीन स्थानों की इन चारों अवस्थाओं से पार हो चुका है।

प्रकरण ३७

आचार्यों की अलौकिक शक्तियाँ

१२५—किसी लोक में गति प्राप्त होने पर पहुंचने वाले में किसी क़दर वहाँ की शक्तियाँ आ जाती हैं और जब वह वहाँ के धनी से सायुज्य यानी एक हो जाता है, तब उसको उस धनी या देवता की सर्व ताक़तें व अधिकार हासिल हो जाते हैं। इससे यह प्रश्न सहज में उठ सकता है कि उन शक्तियों का प्रदर्शन या प्रकाश क्यों नहीं होता

ताकि आचार्यों का इन शक्तियों के स्वामी होने का किसी को संदेह बाक़ी न रहे।

प्रकरण ३८

चमत्कार या करामातें और उनके लक्षण

१२६—उपर्युक्त विषय को समझाने के पहले थोड़ा सा दिग्दर्शन उन करिश्मों या चमत्कारों का करेंगे जिन्हें कहा जाता है कि भिन्न भिन्न अवतारों, देवदूतों, पैगम्बरों, आदि ने दिखाए। राम, कृष्ण, गौतम बुद्ध, ईसा मसीह, मुहम्मद, इत्यादि के बारे में बहुत सी असामान्य प्रकृति की करामातें बयान की जाती हैं जो उन्होंने की हैं और जिनके द्वारा निस्संदेह उनमें ऐसी शक्तियों का होना पाया जाता है जो मामूली तौर पर इंसानों में नहीं होतीं।

१२७—अगर इन करामातों की मिलती जुलती रूप रेखा तैयार की जावे तो ज़्यादातर करामातों में ऐसी बातें पाई जावेंगी जैसे पीड़ा और दुख से छुटकारा, अनुयायियों की रक्षा, नास्तिकों और अविश्वासियों में विश्वास पैदा करना या उनका पराभव करना, वग़ैरा वग़ैरा। मगर इन अलौकिक कार्यों के संपादन में कोई आम-क़ायदा या क़ानून नज़र नहीं आता। ऐसा जान पड़ता है कि वे किसी किसी ख़ास मौक़े पर किए गए थे और हमेशा और हर समय उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उनका आश्रय नहीं लिया जाता था। बल्कि इसके विपरीत यह देखा गया है कि मसीह, पैग़म्बर, अवतार, आदि ने अक्सर अपने और अपने अनुयायियों को नास्तिकों और अविश्वासियों द्वारा बारहा पराजित होने दिया या किसी और प्रकार से उनकी चलने दी। उपर्युक्त बातों से साफ़ ज़ाहिर है कि रक्षा, आरोग्यता या सफलता के लिए अलौकिक कार्यों या मोजज़ों का प्रयोग साधारणतया वर्जनीय है। इससे विचाराधीन समस्या का समाधान हो जाता है और साथ ही दिखावे के लिए असाधारण शक्तियों का जो प्रदर्शन किया जाता है, वह भी हमारी समझ में आ जाता है।

प्रकरण ३९
उच्चकोटि की आध्यात्मिक शक्तियों को प्रयोग में लाने के नियम

१२८—पहले बतलाया जा चुका है कि चैतन्य शक्ति और प्रकृति की अन्य शक्तियों में क्या अंतर है। चैतन्य शक्ति ज्ञानमय, आनंदमय और स्वयं चेष्टावान् है। हम यह भी कह चुके हैं कि सुरत चैतन्य का स्रोत और आदि यानी परम कर्त्तार परम आनंद, परम ज्ञान और परम शक्ति अथवा चैतन्य का अपार और अनंत सिंध है। कुल्ल-मालिक के मुख्य गुणों का इस प्रकार वर्णन कर देने पर यह बात स्वयं सिद्ध सत्य है कि जो कुछ उसने किया है, कर रहा है और करेगा, वह सब अत्यंत बुद्धिमत्ता व चातुर्य से परिपूर्ण है जिसका सिवा इसके और कोई उद्देश्य नहीं कि सबको फ़ायदा पहुंचे।

१२९—कुल्ल-मालिक के बनाए हुए क़ायदे क़ानून भी सर्व अंगों में पूर्ण और निर्दोष हैं और इन्सान के बनाए हुए क़ायदे क़ानून की तरह उनमें किसी भी क़िस्म के रद्दोबदल या सुधार की गुन्जाइश नहीं है। मालिक के सर्वज्ञ होने के कारण ये क़ानून भूत, वर्तमान और भविष्य, सर्व कालों के लिए एक से हैं और सर्व क्षेत्रों में समान रीति से व्यापक हैं। उनकी कार्रवाई से कोई भी क्षेत्र नहीं छूटा। जो आचार्य उन क़ायदे क़ानूनों से परिचित हो जाते हैं या किंचित् अंश में उनका प्रयोग भी करते हैं, वह अवश्य उनका पालन करेंगे, न कि उनका उल्लंघन।

१३०—अब हम यदि चैतन्य शक्ति की भूतल पर क्रिया व कार्य का यथाशक्य अवलोकन करें तो मालूम होगा कि वह हमेशा इस क़दर गुप्त और छिपा हुआ रहता है कि उच्चातिउच्च मानवीय बुद्धि भी अंतर में होती हुई सुरत की क्रिया से अवगत नहीं है। जानदारों में सुरत चैतन्य शक्ति के केन्द्र से चैतन्य धारें निकल कर देह के भिन्न भिन्न घाटों पर पहुंचती हैं जिनकी सहायता से प्रत्येक घाट या अंग की वह कार्रवाई जो कुदरत ने उस घाट या अंग के लिए मुक़र्रर की है, ज़हूर में आती है और थोड़ा सा सीमित ज्ञान व अनुभव वहाँ का प्राप्त होता है जिसकी सहायता से जीवन के साधारण धंधे चलते रहते हैं।

१३१—यही चैतन्य शक्ति जो घाट घाट पर उतर कर प्रकाश में आती है, किसी अंश में क़ुदरत की जड़ शक्तियों के बीच में डुबकी लगा कर रहस्य उद्घाटन करने का भी सामर्थ्य रखती है और फिर उसी से नए नए आविष्कार, खोज व निर्माण होते हैं जिनसे मनुष्य जाति के लिए सुख और आराम की वृद्धि होती है और जिनका शिक्षण संबंधी मूल्य भी बहुत है अर्थात् शिक्षा प्राप्त करने में बड़े मूल्यवान हैं। साधारण अथवा सामान्य चैतन्य के कार्य क्षेत्र का इतना विस्तार है। मगर चैतन्य की धारें इन सब कार्रवाइयों में अप्रत्यक्ष रूप में रह कर काम किया करती हैं और अबाधित रीति से अपने निश्चित अंतरमुख पथ पर प्रवाहित रहती हैं।

१३२—लय (ट्रांस), सम्मोहन विद्या (हिप्नोटिज़्म), जादू, इत्यादि की कुछ असाधारण अवस्थाएँ भी हैं जिनमें कभी कभी अंतरी प्रकाश और चैतन्यता की असाधारण क्रियाएँ देखने में आती हैं। परन्तु इन दशाओं के वशीभूत व्यक्ति बेहोश रहते हैं और उनको अपने भान या स्व-बोध या स्वरूप पर कोई क़ाबू नहीं रहता यानी अपनी इच्छा से वह कोई काम नहीं कर सकते। उनके सब काम या तो सम्मोहन कर्त्ता की मर्ज़ी के मुताबिक़ होते हैं या वे उद्देश्य या क्रम हीन होते हैं। इसके अतिरिक्त उन अवस्थाओं में जितनी बातें कहीं जाती हैं, उनमें से बहुत सी ठीक नहीं निकलती हैं। इससे ऐसा मालूम होता है, गोया इन हालतों में जिन असाधारण शक्तियों का संचालन किया जाता है, उनका सांसारिक उद्देश्यों को अग्रसर करने में ऐसा प्रयोग नहीं किया जा सकता जो जानने में आ सके।

१३३—ऊपर जो हमने कहा है इससे यह नियम निकलता मालूम होगा कि अंतरी चैतन्य शक्तियाँ उन भौतिक कामों के सरंजाम देने के लिए नहीं हैं जो भौतिक शक्तियों से हो सकते हैं। इन चैतन्य शक्तियों के लिए इस प्राकृतिक रचना में अन्य कार्य निश्चित हैं। इसी से संबंध रखने वाला दूसरा नियम यह है कि अंतरी गुप्त चैतन्य शक्तियों पर केवल उसी अवस्था में अधिकार प्राप्त किया जा सकता है और उनका प्रयोग किया जा सकता है जबकि शारीरिक बल का पूरे तौर पर और मानसिक बल का कुछ अंश में शमन हो जावे और इन

शक्तियों को अधिकार में करने वाले की मर्ज़ी किसी दूसरे की गुलाम हो जावे।

१३४—इन क़ायदों को आचार्य पुरुषों को लागू किया जावे तो मालूम होगा कि ऊपर के देशों में गति और वहाँ की चैतन्य शक्तियों को हासिल करने के लिए ज़रूरी और लाज़मी शर्त यह है कि वह ऊपर के देश के धनी और देवता की मर्ज़ी के संपूर्ण रूप से आधीन हो जावें। इस कथन से प्रायः स्वतः सिद्ध अनुमान यह निकलता है कि आचार्य को, ऊपर के देश का धनी अपने मंडल में जिन नियमों के अनुसार कार्य करता है, उन्हीं नियमों का संपूर्ण रूप से पालन और अनुसरन करना चाहिए और उस धनी की अधिकृत शक्तियों के रहस्य को प्रकट करने के लिए जो कुछ वह करता है, निस्संदेह उस धनी की आज्ञा से होना चाहिए। ऐसा कभी भी नहीं हो सकता कि आचार्य जब चाहे तब अपनी इच्छानुसार उन नियमों को तोड़ दे और उन्हें सांसारिक उद्देश्य प्राप्ति के लिए काम में लावे।

प्रकरण ४०

चमत्कारों में भेद

१३५—वे लोग जिन्हें कुछ अल्प आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त है, मगर जो किसी भी श्रेणी के गतिवान् पुरुष नहीं कहे जा सकते और न जिन्हें आचार्य पद की ज़िम्मेदारियों और उत्तरदायित्व की कुछ समझ है, वे अपनी शक्तियों का प्रदर्शन स्वेच्छाचारिता से करते हैं और उनका दुरुपयोग बाज़ीगरी के खेल की तौर से करते हैं। इन प्रदर्शनों से संशयात्मक लोगों के मन में धार्मिक एवं आध्यात्मिक विषयों में रुचि उत्पन्न होती है। किन्तु इन अचरजी कामों की, सच्चे पैगम्बरों अवतारों और गतिवान् पुरुषों इत्यादि द्वारा प्रकट किए गए आश्चर्य कार्यों से, तुलना नहीं करनी चाहिए। उनको आपस में मिलाना न चाहिए।

१३६—प्रथम तो गतिवान पुरुषों द्वारा करामातें और चमत्कार बहुत ही कम हुए हैं और जो कभी कुछ दिखलाया भी है तो उसका

उद्देश्य यही रहा है कि पैग़म्बरों और अवतारों ने जिन अंतरी स्थानों और मुक़ामों का वर्णन किया है, उनके सत्य होने का प्रमाण मिले और ऊपर के स्थानों और मुक़ामों में सुरत की चढ़ाई हो। सबका मन्शा या अभिप्राय यही है कि अंतरमुख अभ्यास करके उन लोकों में पहुंच हो सके। तथापि इस प्रकार के असामान्य कार्य केवल उन्हीं लोगों के लिए किए गए थे जो किसी क़दर सुरतवंत थे यानी जो भक्ति करने और ऊपर के देशों में गति प्राप्त करने के थोड़े बहुत योग्य थे।

प्रकरण ४१

पैग़म्बरों और गतिवान् पुरुषों की प्रतिष्ठा में हानि

१३७—आध्यात्मिकता के अंतरवर्ती नियम के अनुसार साधारणतः जिस घाट पर मनुष्य की स्थिति है, वहाँ तक मोजज़े या करामात अमल में नहीं लाए जा सकते क्योंकि वह घाट सांसारिक वृद्धि की इच्छाओं से भरपूर है। यही कारण है कि जब कभी सांसारिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पैग़म्बरों और अवतारों आदि को अपनी अलौलिक शक्तियों का प्रयोग करने के लिए मजबूर किया गया तब उनको हार खानी पड़ी। अपने मत में दीक्षित करने के लिए भी उन पुरुषों ने केवल साधारण रीतियों से ही काम लिया अर्थात् धार्मिक तत्वों को लोगों के हृदय में बसाने के लिए उन्होंने तर्क, उपदेश और अपने सरल साधु व्यवहार का ही आश्रय लिया और जैसा कि पहले कह आए हैं, इस हेतु की सिद्धि के लिए मोजजों और करामातों का क्वचित् ही आश्रय लिया।

प्रकरण ४२

आश्चर्य व चमत्कारों के अधिक प्रचलित रूप

१३८—तथापि सच्चे भक्तों व अनुयायियों को अपनी असाधारण शक्तियों का परिचय कराने के लिए आचार्यों के समीप

एक और रीति है जो स्वाभाविक भी है। अक्सर घटित होने वाले आकस्मिक संयोगों के जो मामूली तौर से समझ में नहीं आते कि वह कैसे कहाँ से हो गए, देखने में आता है कि उनके परिणाम असाधारण होते हैं और जिनसे ऐसी ऐसी सूरतें पैदा होती हैं कि जिनका कोई मामूली तौर से आगे से अनुमान भी नहीं कर सकता। जैसा कि आगे चल कर दिखलाया जावेगा, अन्य प्राकृतिक घटनाओं की तरह आकस्मिक घटनाएं या संयोग भी निश्चित नियमों के आधीन हैं और जैसा कि आम तौर से समझा जाता है वे कोई अललटप्पू, समझ से बाहर के आगंतुक प्रसंग नहीं हैं। प्रकृति में आकस्मिक घटनाओं या संयोगों के नियमों के स्वाभाविक रीति से नित्य व्यवहृत होते रहने से जनसमूह की दशा में बहुत परिवर्तन होते रहते हैं। इसलिए, जानते हुए, इन नियमों को काम में लाने से किसी भी प्रकार से रचना के उच्चतर आदेशों का उल्लंघन नहीं हो सकता। यही कारण है कि गति वाले पुरुषों ने अपने सेवकों और शिष्यों के लाभार्थ, विशेषकर परमार्थी लाभ के लिए, बहुधा इनका अवलम्बन लिया है।

१३९—शिष्य जब आध्यात्मिक योग की शिक्षा ले रहा होता है, तब बहुधा उसके सामने अनेक विघ्न बाधाएं और अन्य ऐसी बातें उपस्थित होती रहती हैं कि जिन पर विजय प्राप्त करना अथवा जिनको पूरा कर सकना वह मुश्किल वा ना-मुमकिन समझता है। अक्सर ऐसे समय में दिक़्क़तें मौज से ग़ायब हो जाती हैं और साथ में ही ऐसे आकस्मिक जोड़ तोड़ या संजोग उपस्थित हो जाते हैं जिनसे साफ़ पता चलता है कि उनमें निस्संदेह गुरु का हाथ है। बार बार इस तरह के तजरुबे होने से अपने गुरु की भारी समर्थता में शिष्य को कोई संदेह बाक़ी नहीं रह जाता और उसके हृदय में कृतज्ञता और श्रद्धा घर कर लेती हैं। लेकिन इस तरह के दया के परचे सिर्फ़ उन्हीं हालतों में दिए जाते हैं जब कि शिष्य को पारमार्थिक मार्ग में प्रयत्क्ष या परोक्ष रूप से कठिनाइयां उपस्थित होती हैं। सांसारिक बासनाओं के लिए जो सच्चे परमार्थ के या पारमार्थिक आकांक्षाओं के विपरीत हैं, इस तरह की दया कभी नहीं की जाती। हाँ, यदि कोई सांसारिक कठिनाई ऐसी उपस्थित हो गई है जिससे भक्ति और अभ्यास के बनने में भारी रुकावट पैदा हो रही है तो अलबत्ता वह दूर कर दी जावेगी

या कुछ सहूलियत पैदा कर दी जावेगी मगर निरानिरी सांसारिक वासनाओं के प्राप्ति के लिए कोई मदद नहीं दी जावेगी।

१४०—मुल्क फारस के एक फ़क़ीर का बचन है कि —

तालिबाने दुनिया मक़हूरंद

तालिबाने उक़बा मज़दूरंद

तालिबाने मौला मसरुरंद

यानी दुनिया को माँगने वाले अभागे हैं, स्वर्ग बैकुंठ इत्यादि के माँगने वाले मज़दूर हैं और जो मालिक से मालिक को माँगते हैं, वे ही धन्य हैं क्योंकि वे परम आनन्द को प्राप्त होंगे।

प्रकरण ४३

गतिवान पुरुषों और अवतारों में भेद

१४१—ऊपर के परिच्छेदों में हमने गतिवान् पुरुषों की क्षमता और कार्रवाइयों का वर्णन किया है। उसी संबंध में पैग़म्बरों और अवतारों के मोजज़ों, करामातों और अन्य असाधारण चमत्कारों के विषय में भी कहा है। उस बयान से मालूम होगा कि अवतारों और पहुँचे हुए पुरुषों में मुश्किल से कोई फर्क़ हो। लेकिन हक़ीक़त में यह बात नहीं है। अगरचे अख़ीर में अभ्यासी गतिवान पुरुष में जिस स्थान तक उसने गति प्राप्त की है और उस स्थान के अवतार या देवदूत में प्रायः शक्तियां समान दिखती हों, मगर फिर भी उसमें और अवतार में अन्तर, प्रारंभ का, होता है। मोटे तौर पर कहा जाय तो वह फ़र्क यह है कि अवतार और पैग़म्बर में जन्म से ही, ऊंचे देश की शक्तियाँ होती हैं, पर अभ्यासी गतिवान् पुरुष में ये शक्तियाँ बाद में, जीवन में, आध्यात्मिक साधना द्वारा ऊंचे देशों में गति प्राप्त हो जाने पर आती हैं।

प्रकरण ४४

अवतारों की व्याख्या

१४२—इस संबंध में अवतारों के विषय में जो मिथ्या भावना या ग़लत-फ़हमी फैली हुई है, उसको दूर करने के लिए यहाँ कुछ कहना असंगत न होगा। चूँकि मनुष्य एक सीमित प्राणी है, इसलिए यह बात समझ में आ जाना सर्वथा असंभव प्रतीत होती है या कम से

कम लोक विरुद्ध है कि अपरिमित या असीम शक्तिवान तेजोमय पुरुष अपने को अल्प-माप-युक्त सीमावान् नर-पंजर में क़ैद कर लेता है। आम लोगों की यह धारणा निम्नलिखित कारणों से असत्य है।

१४३—इस पुस्तक के पूर्व भाग में हम पहले कह चुके हैं कि आचार्य्य या पहुँचे हुए पुरुषों के इस मानवीय शरीर की साधारण कार्रवाइयों को अंजाम देने के लिए उनकी चैतन्यता का भास ही काफी है क्योंकि उनकी सुरत तो मृत्यु के द्वार को पार करके या तो ब्रह्मांडी मन के देशों या निर्मल चैतन्य देशों में अपनी अपनी गति अनुसार पहुँच चुकी है और उनकी चैतन्य धारों का भौतिक शरीर से सम्पर्क होने से उनके परमार्थी कार्य में किसी भी प्रकार से रुकावट नहीं आती। यदि यह बात पहुँचे हुए पुरुषों के लिए ठीक ठहरती है तो अवतारों के लिए और भी विशेष करके सही होनी चाहिए।

१४४—स्थान का धनी या देवता जहाँ का है, वहीं रहता है और उसके मातहत रचना की सम्हाल ज्यों की त्यों जारी रहती हैं। यद्यपि जब वह अवतार लेकर यहाँ आता है, तब उससे निःसृत सीधी किरणें यहाँ आकर मनुष्य चोला धारण करती हैं और वह अवतार उस धनी की निज प्रेरणा से उस काम को जिसके लिए उसका अवतार हुआ है, बराबर अंजाम देता रहता है।

१४५—अवतार की कार्रवाई की तुलना समुद्र के उस ज्वार भाटे से की जा सकती है जिसका असर या गति किसी विशिष्ट नदी के विशिष्ट भाग में हुआ करती है। बेशक प्रवाह का उतार चढ़ाव उस नदी में सीमित है, मगर वह प्रवाह तो समुद्र के प्रवाह का एक अंग मात्र है। समुद्र तो पूर्ववत् अपनी जगह पर ही रहता है, फिर भी नदी में पानी का चढ़ाव व उतार समुद्र की तुंग तरंगों का ही फल है व उसी से संचालित है।

प्रकरण ४५

अवतार का होना अमित उपकार का हेतु है

१४६—अब हम अवतार होने की आवश्यकता और उद्देश्य को समझावेंगे। हम पहले ही बयान कर चुके हैं कि सर्वज्ञ कर्त्तार द्वारा

प्रकट की हुई रचना में कोई वस्तु अचानक या अनाश्रित नहीं आ पड़ती है और कि रचना व उसके वासियों के लिए जो हालतें गुज़र रही हैं, वह उन नियमों के अनुकूल हैं जिनमें सबका उपकार ही उपकार अभिप्रेत है। ज़ाहिरा, दुख संताप और क्लेश अगरचे दुखदाई और कष्टकर और कभी-कभी दर्दनाक और हृदय विदारक होते हैं और देखने में जो अत्यन्त क्रूर और पीड़क मालूम पड़ते हैं, तब भी वह अंत में मसलहत और फ़ायदे से ख़ाली नहीं हैं क्योंकि वे भी सर्वज्ञ और सर्व बुद्धिमान कुल्ल-कर्त्तार के बनाए हुए क़ायदे क़ानूनों के अंतरगत या आधीन हैं। अगर यह मान लिया जाय कि इस रचना का आदि या मूल कारण सर्व ज्ञान और विवेक का भंडार है तो फिर निरंतर दुख संताप की भावना प्रकट विपरीतता है। इसलिए अगर उन अवस्थाओं के अंदर भी जो परम पुरुष की सर्व सुख व सर्व आनंदमय सत्ता के विपरीत मालूम होती हैं, केवल उपकार ही अभिप्रेत है तो जब उस मालिक के हुक्म या मौज से कोई अवतार यहाँ चरण पधारते हैं तो उससे जीवों का भारी फायदा पूर्ण निश्चित है।

प्रकरण ४६

प्रतिभावान पुरुष ही समस्त ज्ञान व जीवन के सुख साधन के मूल स्त्रोत हैं

१४७—सभ्य जीवन के सर्व सुख साधन और भोग विलास ; कुल यंत्र, उपकरण और सहायक सामग्री जिनसे यंत्रणा और कष्ट में कमी होती है या उनसे रक्षा होती है या जो व्यवसाय और वाणिज्य को बढ़ाते और उनकी उन्नति करते हैं ; सम्पूर्ण खोजें और आविष्कार जिनसे प्रकृति की भीतरी क्रिया-विधि की हमको झलक देखने को मिलती है, चाहे वह बहुत ही कम अंश में क्यों न हो ; बुद्धि, विचार और कल्पना शक्ति की समस्त सृष्टि-ललित कलायें, तत्व विचार, इतिहास, आख्यान, संदर्भ व साहित्य आदि—जिनसे मानसिक शांति व आनन्द प्राप्त होते हैं ; वे सब विधि विधान, नीति व नियम जिनका मुख्य उद्देश्य परस्पर का संघर्ष दूर करना और विरोध रहित शांतिपूर्वक व मैत्री से सब कामकाज का संचालन है; इन सबकी

उत्पत्ति उन प्रतिभावान पुरुषों से है जो ऊपर से इस पृथ्वी तल पर समय समय पर उन कार्यों के लिए आवश्यक सामर्थ्य लेकर पधारे। ऐसा मालूम होता है कि राष्ट्रों का उत्थान और पतन तथा सभ्यता की वृद्धि और ह्रास, इन विशेष शक्ति सम्पन्न व्यक्तियों के इस पृथ्वी पर पधारने व न पधारने से होता रहा है। संक्षेप में सर्व ज्ञान, चाहे किसी प्रकार का हो, विशिष्ट आवश्यक प्रतिभा या मानसिक सामर्थ्य सम्पन्न पुरुषों द्वारा ही प्रकट हुआ, हो रहा है व आगे चल कर होगा।

प्रकरण ४७

पैग़म्बर और अवतार संपूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान के स्रोत

१४८—इसी प्रकार उचित समय पर देशकालानुसार मनुष्य जाति के पारमार्थिक हित के लिए पैग़म्बर और अवतार पधारते रहते हैं। जिन ऊपर के मंडलों से वे आते हैं, वहाँ का वे भेद प्रकट करते हैं और सबके लिए उन साधनाओं पर ज़ोर देते हैं जिनके द्वारा उन लोकों की प्राप्ति हो सके। उन युगों में जब कि लोग सरल और श्रद्धालु प्रकृति के थे, महा पुरुषों का आदर्श और पवित्र जीवन ही उनमें धार्मिक तथ्यों में विश्वास और श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त था और उनके गूढ़ उपदेश जिनसे वास्तविक आध्यात्मिक शिक्षण प्राप्त होता था, बिना तर्क और शंका संदेह के मंज़ूर कर लिए जाते थे और उन पर अमल भी किया जाता था और शिष्यों को उससे ज़रूर लाभ भी हुआ करता था।

१४९—जैसा कि आगे चल कर बतलाया जावेगा पारमार्थिक साधना में चाहे जिस दर्जे की हो, विघ्न बाधाओं और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है, पड़ता है और भविष्य में भी करना पड़ेगा। शुरू में ऊपर से आए हुए पैग़म्बर या अवतार ही आध्यात्मिक गुरू होते थे और बाद में उनके शिष्य जो उनके मार्ग की कमाई करके व उनके चरणों में रह कर उस दर्जे की गति प्राप्त कर लेते थे, उनकी कार्रवाई को जारी रखते थे जिससे उपर्युक्त विघ्न बाधाओं पर विजय

प्राप्त करने में कोई कठिनाई न होती थी। लेकिन जब इस तरह के अभ्यासी गति वाले पुरुष न रहे, तब केवल नियमों की पाबंदी और लीक पिटाई रह गयी और अंतर की चाल बंद हो गई या नाम मात्र रह गई।

१५०—यहाँ साधना से मतलब स्वप्न, सुषुप्ति, लय (ट्रांस) और मृत्यु की अवस्था को पार करके ऊपर के स्थानों और देशों में चढ़ाई से है। इस चढ़ाई में घाट घाट पर मन, बुद्धि और इच्छा का मरण होता है और फिर ऊपर के घाट पर पहुँच कर उन्हें फिर से जाग्रत करने के लिए गुरू की सहायता की वैसी ही ज़रूरत होती है जैसी कि बालक के लालन पालन में हाथों की सहायता की आवश्यकता होती है।

प्रकरण ४८

खोज और अनुसंधान की नई प्रवृत्ति

१५१—अवतार और पैग़म्बरों ने जो अंतरी रहस्य खोले, उनको अगर वे चाहते तो अपने अंतरी प्रकाश की मदद से तर्क वितर्क द्वारा प्रमाणित और सिद्ध कर सकते थे। लेकिन ऐसा करने के लिए समय नहीं आया था। ऊपर के देशों का भेद और वहाँ पहुँचने के अंतरी मार्ग के सिद्धांतों का मानव समाज के सामने खोलने और बयान कर देने के सिवा कोई अधिक कोशिश, उनको प्रतीत दिलाने के लिए, नहीं की गई। लेकिन अब एक बड़ा विशेष प्रकार का परिवर्तन बड़ी तेज़ी से प्रसारित हो रहा है। हर कोई चाहता है कि प्रत्येक बात व्यवहारात्मक और निश्चित ढंग की हो और सब बातें, चाहे वे परमार्थी हों या संसारी, तर्क व बुद्धि द्वारा प्रमाणित की जा सकें। इस युग की यह जिज्ञासा आध्यात्मिक अनुसंधान और अन्वेषण के विरुद्ध नहीं है, वरंच युग की माँग है कि अंतरी रहस्यों का जो प्रकटीकरण हो, वह इस प्रकार से प्रस्तुत किया जावे कि वर्तमान और भविष्य में उसकी स्वीकृति के विषय में किसी के मन में किसी प्रकार के संदेह को स्थान न रहे। यह व्यापक मनोवृत्ति आकस्मिक या

बिना कारण की नहीं है, प्रत्युत ऐसे उच्चतम श्रेणी के पारमार्थिक रहस्योद्घाटन की तीव्र लालसा का परिणाम है जिससे वर्तमान और भविष्य में उच्चातिउच्च कोटि का मानवता का चिर स्थायी उपकार हो।

प्रकरण ४९

प्रचलित धर्मों के अवतार और पैग़म्बरों का उद्भव

१५२—जैसा कि आगे चलकर हम इस ग्रन्थ में बतलावेंगे अवतार व पैग़म्बर जिनका ज़िक्र हम करते आ रहे हैं, रचना के दूसरे बड़े दर्जे यानी ब्रह्मांडी मन अथवा ब्रह्म के देश से आये थे। यह पहले ही कहा जा चुका है कि ब्रह्म और उसका देश अपने अस्तित्व और कार्रवाई के लिए सच्चे कुल्ल-कर्त्तार के जो कि चैतन्यता का आदि और स्रोत है, आधीन हैं और जिस तरह मृत्यु के समय पिंडी मन पर ऊंच नीच हालतें गुज़रती हैं, उसी तरह ब्रह्म और उसके देश पर भी गुजरती हैं। ब्रह्म के देश में पहुँचने से यद्यपि अत्यंत चिरस्थायी आध्यात्मिक लाभ प्राप्त होता है किंतु अमर परमानंद प्राप्त नहीं होता और न हर प्रकार के अभाव तथा परिवर्तनों से ही हमेशा के लिए छुटकारा मिलता है।

१५३—पिंडी मन की वृत्तियों की तरह ब्रह्मांडी मन की वृत्तियां और झुकाव भी अपने देश में बहिरमुख हैं और इसलिए ब्रह्मांड के ऊपर निर्मल चैतन्य देश की ओर अंतरमुखी सुरत चैतन्य की धारों को पकड़ कर चलने और चढ़ने में ब्रह्मांडी मन की वे वृत्तियां स्वभाव से ही विरोध करती हैं। जिस प्रकार कार्यशील-मानसिक-आपा यानी चंचल मन हर वक्त किसी न किसी ऐसे काम में जिससे उसके सुख की वृद्धि हो लगा रहता है, उसी प्रकार ब्रह्मांडी मन भी ऐसे कार्यों में जिनसे उसका आपा या अस्तित्व पुष्ट हो, तत्पर रहता है और पिंडी मन की तरह ब्रह्मांडी मन का निर्मल चैतन्य देश की ओर कोई लक्ष्य नहीं है।

१५४—जब ब्रह्मांडी मन का यह हाल है तो उसके भेजे हुए पैगम्बरों और अवतारों का भी यही हाल होना चाहिए। यही वजह है

कि उन अवतारों और पैग़म्बरों ने जो साधन उपस्थित या जारी किए, उनसे ब्रह्मांड तक की ही रसाई हुई और उनके उपदेशों से वास्तविक या व्यवहारिक लाभ केवल उन्हीं लोगों को हुआ जो उनके या उनके बाद उनके अभ्यासी गतिवान् शिष्यों के सम्पर्क में आए। जब न अवतार और पैग़म्बर और न उनके मत के अभ्यासी गतिवान् पुरुष रहे, तब उनके धर्म के उन अनुयायियों ने जो बाद में दीक्षित हुए, अपने जीवन में वास्तव में क्वचित ही कभी कोई आध्यात्मिक प्रगति की हो। उनको अपने पाप और पुण्य कर्मों के फलस्वरूप मृत्यु उपरांत ऊपर या नीचे के लोकों में बासा मिला, मगर ब्रह्मांडी मन या ब्रह्म के देश में नहीं। कारण यह कि जब तक पिंडी मन की अधोमुखी धारों का समूल नाश न हो, तब तक सुरत ब्रह्मांड में प्रवेश पाने के योग्य नहीं होती। और इसी प्रकार जब तक ब्रह्मांडी मन की प्रवृत्तियों का विनाश न हो, तब तक सुरत निर्मल चैतन्य देश में जाने योग्य नहीं हो सकती। यह उन परिवर्तनों की भाँति है जो द्रव्यों में ठोस अवस्था से विद्युत्कण अवस्था में पहुँचते पहुँचते होते हैं।

१५५—प्रथमतः परमाणुओं को ठोस द्रव्यों में पाए जाने वाले स्नेहाकर्षण से यानी एक दूसरे को पकड़े रहने के गुण से अपने को मुक्त करना पड़ेगा। फिर द्रव पदार्थों के स्निग्धता के बंधन का लोप होता है। इसके बाद भार पैदा करने वाले गुरुत्व को दूर करना होगा। तदनंतर संघर्षण द्वारा खंड खंड होने की परमाणुओं की अग्नि अवस्था को पार करना पड़ेगा। अंत में परमाणु टूट कर विद्युत्कण बन जाते हैं। इन तब्दीलियों में कदम कदम पर परमाणु की स्वछंदता और चेष्टा शक्ति बढ़ती जाती है।

प्रकरण ५०

वर्तमान धर्मों के अवतार और पैग़म्बर जिस जिस स्थान से आए, उसका प्रमाण

१५६—ऊपर कहा जा चुका है कि उल्लिखित अवतार और पैग़म्बर ब्रह्मांडी मन के देशों से इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए। इस बात का प्रमाण उनके द्वारा प्रकटित पवित्र ग्रंथों में मिलता है क्योंकि

उनमें अन्तर के गुप्त भेदों के जो संकेत किए गए हैं, उनको भेदी पुरुष जिसने आध्यात्मिक विज्ञान का ज्ञान प्राप्त किया है स्पष्ट रूप से जान जाता है कि उन अवतारों इत्यादि का सिद्धान्त पद रचना के दूसरे बड़े दर्जे में था। अलबत्ता वे इशारे उस शख्स की समझ में कुछ भी नहीं आ सकते जो अन्तर के भेद से वाक़िफ नहीं है और ऐसे शख्स को वर्तमान अनेक धर्मों और मज़हबों के सिद्धांत पदों में कोई फर्क़ नहीं मालूम होता।

१५७—बहुत सी बातें जो प्रकट में असंभव और विवेक शून्य या उपहास युक्त मालूम होती हैं, उनमें सुरत चैतन्य की ऊपर के देशों की चढ़ाई की अलग अलग मंज़िलों या ठेकों और सवारी के हालात छिपे हुए हैं। उदाहरणार्थ कहा जाता है कि पैग़म्बर मुहम्मद साहब अपने सर्व-विदित घोड़े 'बुराक़' पर सवार होकर आसमान पर चढ़े और चढ़ाई के दरम्यान चाँद के दो टुकड़े किए। साधारण मनुष्य को जो अन्तरी भेद के पारिभाषिक शब्दों से अनभिज्ञ है और जिसने अंतरी भेद की शिक्षा दीक्षा नहीं पाई है, इन प्रसंगों को एक पौराणिक कथा का ही रूप समझेगा। परन्तु उसके लिए जो आध्यात्मिक पाठशाला का छात्र है, यह बातें सर्वथा विभिन्न ही अर्थ रखती हैं।

१५८—'बुराक़' घोड़े से मतलब रचना के तीसरे बड़े दर्जे यानी पिंड देश की सब से ऊंचे दर्जे की बिजली की धार से है। यह गोया पिंड देश की प्रत्येक स्थूल वस्तु की जान और रूह है और इसी धार पर सवार होकर चलने से ऊपर के देश में चढ़ाई हो सकती है। इस धार का स्रोत चन्द्रमा में है। मगर यह चंद्रमा, पृथ्वी का उपग्रह चंद्रमा नहीं है। बल्कि मतलब उस मंडल से है जो हमारे सूर्य से ऊपर प्रतिष्ठित है और पिंड के छठे चक्र यानी सुरत की बैठक के स्थान से ताल्लुक़ रखता है। आगे चढ़ाई होने के लिये यह ज़रूरी है कि इस चक्र को बेधा जावे। जब पैग़म्बर साहब इस चक्र को पार कर गए तो आध्यात्मिक परिभाषा में कहा जा सकता है कि उन्होंने चाँद के दो टुकड़े कर दिए। तब उनको चकाचौंध करने वाली रोशनी की झिलमिल झाँकी मिली जिसे वेद मत में 'ज्योति' अर्थात् माया सबल ब्रह्म की अर्द्धांगिनी (शक्ति) कहा है। मुहम्मद साहब को कुल हुक्म, हिदायत और इलहाम इसी स्थान से हुए और उनके मत का सिद्धान्त यहीं तक सीमित है।

प्रकरण ५१

आध्यात्मिक पुनरुद्धार

१५९—चूंकि चैतन्य धार का ज्ञेय (पदार्थ) से संयोग होने पर ही उसके निसबत सर्व प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है, इसलिए स्पष्ट है कि किसी मंडल के धनी और उसकी मातहत रचना का सार भेद या हाल सिर्फ उसी धनी को या उससे ऊपर के मंडल के धनी को मालूम हो सकता है। चुनांचे जब कभी किसी मंडल के धनी को अपने से नीचे के लोकों की बासी सुरतों को अपने लोक में बासा देना आवश्यक या उचित प्रतीत होता है तो अपना और अपने धाम का भेद उद्घाटन करने तथा वहाँ बासा पाने के मार्ग का उपदेश देने के लिए सर्व प्रथम उसे अवतार धारन करके आना पड़ता है। ऐसे अवतार क्वचित होते हैं और जब कभी होते हैं तो अपने दर्जे का अत्यन्त गूढ़ से गूढ़ भेद प्रकट करते हैं और जिनको उनके सन्मुख आने का सौभाग्य प्राप्त होता है, उनकी जल्द और आला तरक्क़ी होती है। उनके बाद आध्यात्मिक उद्धार का कार्य उनके अभ्यासी गतिवान शिष्यों द्वारा जारी रहता है। जिस क़दर आचार्य ने अन्तर में सीख कर जिस दर्जे की गति प्राप्त की होगी अर्थात् वह जिस श्रेणी का आचार्य होगा, उसी क़दर उसे सफलता मिलेगी। यदि आचार्य्य गुरु प्रथम श्रेणी का हो यानी उसने अपनी धनी से सायुज्य अवस्था प्राप्त कर ली हो अर्थात् दोनों की ज़ात और जौहर में कोई भेद न रहे तो उसकी गुरुवाई उस धनी के अवतार के ही समान रूप कार्य-साधक यानी उद्धार बख्शने में समर्थ होगी।

प्रकरण ५२

अवतारों के आने के पूर्व आंतरिक रहस्यों का आंशिक उद्घाटन

१६०—किसी धनी के अवतार लेने से पूर्व, बतौर रास्ता साफ़ करने या बनाने के, कभी कभी कुछ भेद पेशगी खोलना लाभकर होता है। इस मतलब के लिए किसी ऐसी सुरत को जो उस धनी की निज अंश यानी निज पुत्र या उसके मंडल की बासी हो, अख्तियार देकर

यानी शक्ति संपन्न करके इस पृथ्वी पर भेजा जाता है। न सिर्फ रचना के दूसरे बड़े दर्जे का जिसको ब्रह्मांड कहते हैं, बल्कि निर्मल चैतन्य देश का भेद भी इस तौर पर प्रकट किया गया है।

१६१—अनेक कोटि के अनेक संतों यानी निर्मल चैतन्य देशों के आचार्यों ने जो कि रचना के पहले बड़े दर्जे के विभिन्न स्थानों के धनियों के निज पुत्र थे, इसी हेतु यहाँ चरण पधारे। सबसे पहले कबीर साहब आए। उनकी पवित्र वाणी के कुछ शब्दों से अत्यन्त स्पष्ट रूप से विदित होता है कि वे ऊँचे से ऊँचे धाम से पधारे थे जो कि अलख और अगम से परे है और जिसको राधास्वामी धाम कहते हैं (देखिए प्रकरण ५४)। वह सर्व समर्थ कुल-मालिक राधास्वामी दयाल के निज पुत्र थे और सच्चे परम पिता के हुज़ूरी हुक्मों को सुनाने के लिए अगवानी स्वरूप आए थे। इस बात का संकेत कबीर साहब की निम्नांकित कड़ी में किया गया है :—

कहें कबीर हम धुर घर के भेदी
लाए हुकुम हुज़ूरी

१६२—कबीर साहब के बाद थोड़े थोड़े अंतर से संत आते रहे, जैसे—गुरु नानक, जगजीवन साहब, पलटू दास, हाथरस वाले तुलसी साहब (कवि तुलसी दास नहीं जिनका मुख्य ग्रंथ रामायण है)। अन्य ज़रा ही कम दर्जे के आचार्य भी पधारे। यथाः—ग़रीबदास, दूलनदास, चरनदास, नाभाजी, दरिया साहब, रैदास, सूरदास, शम्स तबरेज़, मन्सूर, सरमद, मुइनुद्दीन चिश्ती, इत्यादि इत्यादि।

प्रकरण ५३

संतों के उपदेश सब समान और एक से हैं

१६३—इन सब संतों और आचार्यों के बचन बानी और उपदेश परमार्थ कमाने के तरीक़ों के संबंध में समान यानी एक-मत्य हैं जो कि संक्षेप में कहे जायँ तो सत्तनाम, सतगुरू और सतसंग हैं। सत्तनाम से मतलब सच्चा नाम है जिसका आशय है कि सच्चा अर्थात् चैतन्य नाम अंतर में सुनना या जपना चाहिए। सतगुरु का अर्थ सच्चा मार्ग-दर्शक यानी ऐसा आचार्य पुरुष जिसको सत्य और निर्मल चैतन्य देश में

गति प्राप्त हो और जो साधक शिष्य या अभ्यासी को वहाँ ले जाकर पहुँचा सकता हो। ऐसे सच्चे गुरू की व्याख्या गुरू नानक ने नीचे लिखी साखी में इस प्रकार की है—

घर में घर दिखलाय दे सो सतगुरु पुरुष सुजान ।
पंच शब्द धुनकार धुन तहँ बाजे शब्द निशान ।।

अर्थात् जो सर्वज्ञानी पुरुष इस शरीर रूपी घर के अंदर घर, कोठे के अंदर कोठा दिखला देता है, वही सतगुरू या सच्चा पद प्रदर्शक है। इस शरीर के अंदर जो पाँच अलग-अलग शब्द नित्य उठ रहे हैं, गूँज रहे हैं, वे उसके अंतर के अंतर पाँच स्थानों के पृथक पृथक परिचय-स्वरूप पृथक पृथक शब्द बज रहे हैं। उनकी धुनकारें व ध्वनियां नित्य गूँज रही हैं।

१६४—सतसंग का मतलब सच्चा संग यानी संगति या समाज है। चूँकि सतगुरु निर्मल चैतन्य के जो एक मात्र अविनाशी व चिरंतन होने के फल स्वरूप सनातन सत्य है, जीते जागते स्वरूप हैं, इसलिए उनका संग बाहरी सतसंग है। अंतर में जो चैतन्य की धार आ रही है, उसका संग करना अंतरी सतसंग कहलाता है। चैतन्य की धार का संग करने से मतलब अंतर में शब्द सुनना या अंतर ही अंतर चैतन्य या ध्वन्यात्मक नामों का जाप करना है। चूँकि सच्चे गुरु को अपने शिष्यों के अंतर के सब घाटों पर गति है, इसलिए अंतर में सतगुरु स्वरूप का दर्शन चाहे आप अपनी तरफ से देवें या शिष्यों के प्रीत व लग्न पूर्वक उनका ध्यान करने से होवे या उनकी दया का इज़हार उन पर जब जब हुआ, याद करना भी अंतरी सतसंग है।

प्रकरण ५४

राधास्वामी दयाल का आगमन

१६५—संतों और अन्य गतिवान् पुरुषों द्वारा जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, सच्चे आध्यात्मिक उद्धार की क्रिया के लिए जब ज़मीन तैयार होकर आगे अधिक उन्नति का अधिकार प्राप्त हुआ, तब ऊँचे से ऊँचे चैतन्य धाम के धनी राधास्वामी दयाल का अवतार हुआ। जैसा कि कह चुके हैं संतमत के उसूल और उपदेश और

उपासना व अभ्यास की विधियाँ जो पहले ही से प्रकट कर दी गई थीं, अब अत्यंत सरल और सहज रूप में बयान की गई और अंतरमुख अभ्यास के तरीक़े इस क़दर आसान कर दिए गए कि बिना किसी कठिनाई और दिक्क़त के हर औरत और मर्द, किसी भी उम्र, किसी भी क़ौम का हो, कामयाबी के साथ कर सकता है। सिर्फ आहार और आचार व्यवहार आदि में थोड़े से सरल नियमों के पालन की ज़रूरत है।

१६६—रचना की वास्तविक उत्पत्ति और उसका हेतु जो अब तक अगम्य रहस्य रहे और जिन्हें पिछले संतों ने भी खोल कर नहीं समझाया था, अब अत्यंत दयालु राधास्वामी ने उन्हें पूर्ण रूप में खोल कर सुनाया। ऊँचे से ऊँचे धाम के सच्चे ध्वन्यात्मक चैतन्य नाम को भी जिसे पिछले संतों ने नहीं प्रकट किया था, उन्होंने ज़ाहिर किया। इन सब अंतरी भेदों की सच्चाई का निश्चय कराने व उसको प्रमाणित करने के लिए सतसंग में जो कि प्रतिदिन उनकी अध्यक्षता में होता था, अत्यंत अलौकिक प्रकार के प्रवचन फरमाए और इनको शुद्ध आगमन और निगमन, दोनों प्रकार के तर्क वितर्क और सब लोगों की पहुँच के भीतर मामूली देखी हुई बातों से व उपासना व अभ्यास में करके देखे हुए अनुभवों के दृष्टान्त दे देकर पुष्ट करते हुए प्रस्तुत किए। राधास्वामी दयाल के अवतार द्वारा प्रकट किए हुए इन्हीं रहस्यों का वैज्ञानिक रीति से इस पुस्तक में दिग्दर्शन कराया गया है और उनके ही प्रवचन इस ग्रंथ के आधार हैं।

प्रकरण ५५

परमार्थ कमाने के लिए जीते जागते वक्त गुरु की ज़रूरत

१६७—देह त्याग करने पर संत और अन्य आचार्य सब घाटों से जहाँ जहाँ वह, पृथ्वी पर पधारते व निवास करते समय अपनी चैतन्यता छोड़ आए थे, उसे खींच कर निज धाम में फिर जा समाते हैं। उनका इस पृथ्वी से प्रस्थान करना अन्य साधारण जीवों की तरह नहीं होता। उनको उसका सर्वदा भान रहता है। ऐसी मौज उसी वक्त होती

है जबकि वह उद्देश या मतलब जिसके लिए उन्हें यहाँ पधारने का नियोजन हुआ था, पूरा हो चुकता है जब वे इस धरातल पर विराजमान रहते हैं, उनकी चैतन्यता इस क़दर भारी होती है कि जो भी चीज़ उनके स्पर्श में आ जाय, उसी में उनकी कुछ न कुछ चैतन्यता भर जाती है। ऐसी वस्तु से स्पर्श या उसका उपयोग सदैव कल्याणप्रद है। परंतु जिस देश से वह यहाँ पधारे थे, वहाँ की चैतन्य शक्ति उनके प्रस्थान के साथ क्रियावान नहीं रहती। यह क़ायदा है कि रचना के भिन्न भिन्न घाटों को जो चैतन्यता प्रदान की गई है, वह अपने से नीचे के घाट पर क्रिया नहीं करती, यद्यपि वह रिस रिस कर नीचे पहुँचती रहती है, पर इस तरह एक अंश मात्र चैतन्यता को ही मार्ग मिलता है। गुप्त होने के बाद संत या गतिवान् पुरुष इस नियम के विरुद्ध जीवों को वही परमार्थी मदद नहीं पहुँचाते जैसी कि जब वह यहाँ विराजमान थे, पहुँचाते थे।

१६८—अलबत्ता मृतात्माएँ जो मृत्यु होने पर स्थूल भौतिक शरीर के बंधन से तो छूट गईं मगर जिनकी संसारी भोग बासनाएँ और दुनियावी आकर्षण वैसे ही प्रबल बने रहे जैसे कि मृत्यु से पहले जीवित दशा में थे, सूक्ष्म जगत से जिसका संबंध पृथ्वी लोक से लगा हुआ है और जो आकाश मंडल में स्थित है, अक्सर अपने मित्रों और संबंधियों से जिनसे उनका मोह रहा है, संदेशों का आदान प्रदान लगाए रहती हैं या अन्य किसी प्रकार से यहाँ के मुआमलों में दिलचस्पी लेती रखती हैं, चाहे परिणाम अच्छा हो या बुरा।

१६९—इसलिए संतों की और विशेषकर राधास्वामी दयाल के अवतार की धार्मिक शिक्षा में कार्यात्मक परमार्थी साधन के लिए जीते जागते यानी वक्त के गुरू की जरूरत पर बड़ा ज़ोर दिया गया है।

१७०—चैतन्य-शक्ति-विषयक-विज्ञान अति नैपुणयपूर्ण और सूक्ष्म है। उसकी अनभिज्ञ घाटों पर साधना की नित्य नियमपूर्वक आवश्यकता है। इसलिए आध्यात्मिक प्रयोग के लिए धर्म ग्रंथों का पढ़ लेना काफी नहीं है। ऐसे अभ्यासों के सफलतापूर्वक

बनने के लिए गतिवान् पुरुषों की अन्तर और बाहर मदद की निरन्तर आवश्यकता रहती है।

१७१—सर्व विकारों की जड़ आपा है। इस शब्द का प्रयोग मूलार्थ यानी ऐसी चेतना या भावना में किया गया है जिसका अर्थ और भाव यह ठहरता है कि मनुष्य जो कुछ करता है, चाहे परमार्थी कृत्य हो या संसारी, उसे बोध होता है कि वह उसकी स्वतः की योग्यता और बल का नतीजा है और उस योग्यता और बल के स्रोत को जहाँ से उसकी उत्पत्ति है, भूल जाता है। जब तक यह क्रिया या धर्म चालू है, सुरत का ऊपर के देशों में चलना और चढ़ना ना-मुमकिन है। अभ्यासी या उपदेशी अपने मन के आपे के गिर्द घूमा करेगा और उसी को अपना असली रूप समझता रहेगा। ऐसी हालत में असली तरक्की नहीं हो सकती। गतिवान् पुरुष ही जो ऊंचे घाटों से कार्रवाई करते हैं, इस भारी विघ्न पर विजय प्राप्त करा सकते हैं।

१७२—जब अभ्यासी शिष्य अपने किए हुए प्रयत्नों को निष्फल देखकर निराश होने लगता है, तब ऐसे समय मदद जिसके विषय में हम कहते आ रहे हैं, बिना माँगे ही आप से आप आती है। शिष्य की पारमार्थिक साधना के क्रम में इस तरह की अवस्था के बार बार घटित होने से अभ्यासी के स्वभाव और रहनी गहनी में धीरे धीरे परिवर्तन होने लगता है। आत्म-विश्वास के बदले आत्म-संदेह और नम्रता स्थान ग्रहण कर लेते हैं। समय समय पर शिष्य को जब सहायता की आवश्यकता होती है, अपनी दृष्टि और अपना ध्यान अन्तर में ऊँचे स्थानों की ओर ले जाता है। यह क्रम बार बार होते रहने से धीरे धीरे उसकी कार्रवाई का घाट बदल जाता है। जब ऊपर के घाट की ताक़तें किसी क़दर जाग जाती हैं, तब उपासक बन्धनों से मुक्त होने, आनन्दोद्रेक होने तथा दृष्टि-क्षेत्र के बढ़ जाने से निहायत दर्जे मगन होता है। तब अपने ज़ाती तजरुबे से उसको सच्चे तौर पर पता चलता है कि किस प्रकार अहंभाव में सब विकार शामिल और छिपे रक्खे हैं और तभी उसको सरन और भक्ति की महिमा और उसका आनन्द भी मालूम होता है। इस प्रकार की निर्मल और सच्ची भक्ति जिससे भक्त

अपनी उपासना के लक्ष्य की ओर वेग पूर्वक अग्रसर होता है, **केवल जीते जागते वक्त-गुरु द्वारा ही पैदा हो सकती है, अन्यथा नहीं।**

१७३—वे उपासक या भक्त जो भक्ति मार्ग में कुछ अग्रसर हो चुके हैं, दूसरों को किसी क़दर मदद दे सकते हैं जिसका रूप यह होता है कि वे अपने अंतरी अनुभवों का वर्णन करके तथा अपना उदाहरण पेश करके उनकी प्रीत प्रतीत दृढ़ाते तथा परमार्थ की लगन बढ़ाते हैं। मगर सुरत का अपनी मामूली बैठक के स्थान से ऊपर को चढ़ना तो तभी मुमकिन है **जब कि जीते जागते गुरु मौजूद होते हैं।**

१७४—यह ज़रूरी नहीं कि शिष्य सदा गुरु के अंग संग रहे। **जब तक गुरु देह रूप में विराजमान हैं,** उनकी चैतन्यता ऊपर के घाटों पर **क्रियावान्** रहती है और इसलिए वह अंतर में अपने शिष्य को, चाहे वह दूर ही क्यों न हो या रहे, सहायता-यथार्थ में आध्यात्मिक—पहुंचा सकते हैं।

१७५—जीते जागते गुरू के न होने से ही सब मज़हबों की, चाहे वे रचना के दूसरे बड़े दर्जे के हों चाहे प्रथम दर्जे के, भीतरी प्रगति बंद होने या उसका ह्रास होने का कारण हुआ है।

१७६—**अंतर में बराबर तरक्क़ी का जारी रहना सिर्फ़ उसी हालत में मुमकिन है जब कि एक गुरु के बाद दूसरे गुरु बराबर होते चले आवें या जल्द जल्द थोड़े थोड़े अंतर से होते रहें। इस मध्यवर्ती अवकाश के समय चैतन्यता जो अब तक एकत्र हुई रहती है, उसको मानो जमने या सुदृढ़ होने का अवसर प्राप्त होता है और आगामी या उत्तराधिकारी गुरु के चरण पधारते**

तक वह इस योग्य हो जाती है कि जो प्रगति हो चुकी थी उसकी नींव पर उसमें आगे प्रगति या उन्नति हो।

प्रकरण ५६

गुरु महाराज के तत्वावधान में नियम से सतसंग

१७७—गुरू के सभापतित्व में जिस प्रकार सतसंग होता है, उसका कुछ विस्तार से यहाँ वर्णन करना अप्रासंगिक न होगा। इस प्रकार का सतसंग, एक तौर से, कार्य रूप में पारमार्थिक शिक्षा और उपासनार्थ अभ्यास के लिए एक साधक समुदाय या कक्षा है। वक्त के आचार्य अपने तत्वावधान में सतसंग कराने के लिए एक ऊँचे स्थान पर बैठते हैं ताकि उनके प्रवचन सुनने में श्रोताओं को कठिनाई न हो। श्रोताओं में पुरुष और स्त्रियाँ दोनों होती हैं। मगर स्त्रियों के बैठने का स्थान, पुरुषों के बैठने के स्थान से, पृथक होता है और उनके लिए पर्दे का प्रबंध रहता है। बग़ैर ख़ास इजाज़त के, जो आम तौर पर हर शख़्स को जो परमार्थी गरज़ से संतमत के सिद्धांत समझना चाहता है दी जाती है, बाहरी लोग सतसंग में हाज़िर नहीं हो सकते। बाहर के लोगों की हाज़िरी पर रोक टोक का ख़ास कारण यही है कि सतसंग में अक्सर अंतरी चैतन्य शब्दों को ध्यान देकर सुनने का अभ्यास सतसंग का एक अंग होने से, किया जाता है और वह अभ्यास ग़ैर लोगों के सामने नहीं किया जा सकता।

१७८—सतसंग का आरंभ मंगलाचरण के पाठ से होता है जिसमें सब उपस्थित सतसंगी भाग ले सकते हैं। मंगलाचरण के शब्द पवित्र वाणी के वे शब्द हैं जिनमें परम दयालु कुल-मालिक राधास्वामी दयाल की अपार दया का शुकराना और धन्यवाद किया जाता है कि किस प्रकार उन्होंने मुक्ति का सत्य मार्ग बतला कर जीवों का अति महान परमार्थी उपकार किया है तथा अविनाशी परमानन्दमय निर्मल चैतन्य देश की ओर अंतर में सुरत को चलने और चढ़ने में सदैव किस प्रकार दया पूर्ण सहायता करते हैं। इसी प्रकार

अंत में बिनती पढ़ कर सतसंग समाप्त होता है। मगर बिनती का विषय दूसरा होता है। उसमें यह प्रार्थना की जाती है कि कमज़ोर और भूल भरम में पड़े हुए जीवों को जो कि बिना उनकी मदद के सच्चे उद्धार की कार्रवाई कुछ भी नहीं कर सकते, सहायता और दया प्रदान की जावे और परम पुरुष के चरन कमलों में प्रेम पैदा हो क्योंकि बिना सहायता, दया और प्रेम के उनके नूरानी और सुन्दर रूप के दर्शन का परम आनंद और उनके पवित्र धाम की प्राप्ति नहीं हो सकती। मंगलाचरण और बिनती के बीच में बाक़ी कुल वक्त संतों की बानी का पाठ होता है जो गद्य और पद्य दोनों में है। बानी के उन भागों के अर्थ जो आसानी से समझ में नहीं आ सकते, सतसंग के अधिष्ठाता आचार्य बयान करते हैं या उनको वह पारमार्थिक प्रवचनों का विषय बनाते हैं, दूसरे दूसरे प्रवचन भी अक्सर फरमाते रहते हैं। इनमें या तो संत मत के सिद्धांतों का वैज्ञानिक रीति से तथा युक्ति संगत प्रणाली से प्रतिपादन किया जाता है या उनमें पारमार्थिक अभ्यास व उपासना से संबंध रखने वाली बातों का समावेश होता है। जब बानी का पाठ होता रहता है, तब उस पर ध्यान देने के साथ साथ सतसंगी अंतरमुख अभ्यास में भी, विशेष कर ध्यान में, रत रहते हैं क्योंकि संत सतगुरु के विराजमान होने से तथा आध्यात्मिक प्रभाव उत्पन्न करने वाली बानी का पाठ सुनने से ध्यान के अभ्यास में सहूलियत होती है। साथ ही साथ मन की सफाई और बुरी बासनाओं का उच्छेदन भी होता रहता है।

१७९—कुल बुराइयों की जड़ अज्ञानता है जिससे विवेक, बुद्धि, समझ बूझ पर तिमिर छाया रहता है और पाप कर्म तथा उनकी प्रेरक इच्छाओं की बुराइयाँ नज़र ही नहीं आने पातीं। संत या गतिवान् पुरुषों की उपस्थिति में यह अज्ञानता किसी हद तक दूर हो जाती है। सतसंगियों को अपनी क़सरें मालूम करने और फिर उन पर सच्चा पश्चात्ताप पैदा होने के लिए संतों और गतिवान् पुरुषों का केवल प्रशांत व पवित्र संग ही कभी कभी काफी होता है। पर सतसंग के वचनामृत पान से, जैसा पहले कहा जा चुका है, मन की सफाई बहुत जल्द होती है और साथ ही साथ श्रोतागण के अन्तर से सच्ची विवेक

शक्ति को बढ़ाने और पुष्ट करने के लिए अद्वितीय अति कुशल शिक्षा मिलती है जिससे उनमें धीरे-धीरे यह योग्यता आ जाती है कि वे मन की दुर्लक्ष्य घातों या गुप्त और धूर्त चालों को जो संतमतानुसार सच्चे शुभ कर्म परमार्थी दुरुस्त रहनी गहनी के विरुद्ध हों, समझ सकें।

१८०—सतसंग का वातावरण, संत या साध गुरू का विराजमान होना और उनके बचन, सब, परमार्थ के सच्चे सेवकों की परमार्थी वृत्ति पर भी बड़ा गहरा असर करते हैं और जैसे जैसे अभ्यासी भक्त अपने अभ्यास में तरक्क़ी करता जाता है, वैसे ही धीरे-धीरे सतसंग में उसको अत्यंत उच्च कोटि के आध्यात्मिक आनन्द व हर्षोत्कर्ष के भावों का अनुभव होने लगता है और इस संसार के सब रस और मज़े तुच्छ फीके मालूम होने लगते हैं और तमाम सतसंग के समय वह अत्यानन्द में विभोर और मगन रहता है। इस कैफ़ियत का कबीर साहब ने नीचे लिखी कड़ी में वर्णन किया है :—

मूरख जन कोई मरम न जाने
सतसंग में अमृत बरसे

अर्थात् अनभिज्ञ जन इस रहस्य को नहीं जानते कि सतसंग में अमृत की वर्षा होती है।

प्रकरण ५७

स्पर्श द्वारा पवित्र की हुई वस्तुओं का वितरण

१८१—सतसंग शुरू होने से पहले कभी कभी सतसंग के अधिष्ठाता को हार पहनाए जाते हैं और उनके स्पर्श से पवित्र हुए हारों को सतसंगियों में बाँट दिया जाता है। मीठा अथवा अन्य कोई हलके खाद्य पदार्थ भी कभी कभी स्पर्श द्वारा प्रसाद करके बाँटे जाते हैं। सतसंग की यह रीति एक प्रकार से वैसी ही है जो सर्वत्र सर्व धर्मों में देखने में आती है यानी जब किसी भक्त पर कोई अनोखी दया, अन्तरी या बाहरी, आध्यात्मिक व सांसारिक होती है तो वह कृतज्ञता स्वरूप

बाहर में कोई धार्मिक कृत्य और संस्कार का आयोजन करता और उसके सफल संपादित होने पर अन्त में मिष्ठान्न आदि उपस्थित जनसमूह में वितरण कराता है।

१८२—चूँकि सतसंगियों की संख्या दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है, राधास्वामी सतसंग की यह दोनों कार्रवाइयाँ धीरे धीरे कम होती जा रही हैं और अगर इसी तरह राधास्वामी मत के अनुयायियों की संख्या बढ़ती रही और प्रतिदिन सतसंग में सैकड़ों और हज़ारों की तादाद में लोग इकट्ठे होते रहे तो इन दोनों बातों को सतसंग के कार्य-क्रम से बिलकुल बंद कर देना पड़ेगा।

प्रकरण ५८

परशादी, चरनामृत, आरती और मत्था टेकना

१८३—गुरु महाराज द्वारा पवित्र की हुई वस्तुओं से लाभ उठाने का मौक़ा भी कुछ शिष्य मंडली को जो संत सतगुरु की सेवा में अक्सर हाज़िर रहते हैं, दिया जाता है। ऐसी वस्तुओं के उपयोग से क्या लाभ या उपकार होता है, इसको सैद्धान्तिक दृष्टि से अभी आगे समझाया जावेगा।

१८४—गुरू महाराज के भोजन करने के पश्चात् उनकी थाली में जो उच्छिष्ट बच रहता है, उनके पहने हुए कपड़े, जल जिससे उनके चरण धोए जाते हैं, इन सब में उनकी भारी चैतन्यता समाई हुई समझ कर जिन शिष्यों के हाथ ये वस्तुएँ लग जाती हैं, उन्हें वे श्रद्धापूर्वक अपने काम में लाते हैं।

१८५—कभी कभी शिष्यों को गुरु महाराज के चरणों पर मस्तक रखकर चरण स्पर्श करने की इजाज़त भी दी जाती है। इसका उद्देश्य यह है कि वह चैतन्यता जो सतगुरु के चरण कमलों से निरंतर प्रवाहित होती रहती है, उसका समावेश अपने में कर सकें। मगर इस प्रकार अभिवादन करने की रीति भी केवल बहुत कम शिष्य मंडली तक ही सीमित रहती है। गुरू महाराज के स्पर्श द्वारा पवित्र की हुई चीज़ों का उपयोग या उपर्युक्त रीति से बंदगी करना, सतसंग के कार्यक्रम के अंग नहीं हैं।

१८६—कभी कभी शिष्यों को टकटकी बाँध कर सतगुरू की आँखों को ताकने का मौक़ा दिया जाता है और सतगुरू भी अपनी दृष्टि इसी प्रकार इस अभ्यास में लगे हुए उन शिष्यों की आँखों और पेशानी पर डालते हैं व इसके साथ ही बानी से ऐसे शब्द पढ़े जाते हैं जिनमें या तो निर्मल चैतन्य देश की ओर सुरत के चलने और चढ़ने व मार्ग का ज़िक्र होता है या गहरे प्रेम और विरह का या सच्ची दीनता और कुल्ल-मालिक की शरण अख़्त्यार करना व उसकी मौज से मुआफक़त करने यानी उसकी रज़ा में राज़ी रहने की अवस्थाओं का जो सुरत की चढ़ाई में अभ्यासी पर आती हैं, बयान होता है। इस पाठ के समय सतगुरु की इकटक दृष्टि से सहायता से गुरु स्वरूप के ध्यान का अभ्यास करना पड़ता है। इन क्षणों में सुरत का सिमटाव और खिंचाव बड़ा ज़बरदस्त होता है और वे भक्त जो इस विधि का अभ्यास करते हैं, अन्तर में अति आनन्द से शराबोर हो जाते हैं। जब खिंचाव और सिमटाव भक्त की शक्ति से इस क़दर ज्यादा हो जाता है कि वह उसकी झटक को झेल नहीं सकता तो उसकी आँखें आप से आप बंद हो जाती हैं, लेकिन इस अवस्था में वह अन्तर में बराबर बाहोश और बा-ख़बर बना रहता है और सम्मोहन विद्या द्वारा वशीभूत हो जाने वाले व्यक्ति की तरह वह अपने स्वरूप का बोध नहीं खो बैठता। इस क्रिया या अभ्यास को संत मत में "आरती" की रीति कहते हैं। अभ्यास की इस रीति के समय जो सहायता प्रदान होती है, वह बहुत कुछ उसी तरह की है जो माता या धाय द्वारा छोटे बच्चे को जिसने अभी चलना शुरू किया है, प्रदान होती है।

१८७—इसी रीति अर्थात् आरती के प्रभाव को सम्मोहन विद्या द्वारा या सुझाव द्वारा जनित प्रभाव से मिश्रित नहीं करना चाहिए। कारण, इस सहायता प्रदान करने का उद्देश्य सुरत की सोई हुई ताक़तों को, स्वतन्त्र संकल्प शक्ति और सुध बुध को क़ायम रखते हुए, जगाना है। वशीकरण विद्या की तरह वशीकरण के प्रयोग करने वाले की इच्छाओं को पूरा करने का, सुरत की अंतर्निहित शक्तियों को साधन बनाना नहीं है।

१८८—पूर्व में कह आए अनुसार अब हम पवित्रीकरण की उपर्युक्त चारों रीतियों के सिद्धांत की व्याख्या करेंगे जो हार इत्यादि का स्पर्श से पवित्र होने का भी सिद्धांत है।

१८९—जीवित प्राणी को छूने से उसकी भीतरी दशा का प्रभाव छूने वाले पर पड़ता है। इसका प्रमाण बहुत स्पष्ट रीति से बहुत से कीड़े मकोड़ों आदि के स्पर्श से होता है। इनसे छूने का असर इस हद तक हो सकता है कि छूने वाले के तत्काल छाले उठ आवें। यह विशिष्टता, यद्यपि कम अंश में, कुछ न कुछ प्रत्येक जीवित प्राणी में पाई जाती है।

१९०—अब तक इस कथन को पुष्ट करने के लिए कि किसी जीव के शरीर में अंतर्निहित चैतन्यता उस चोले द्वारा जिसे उसने धारण किया है, अपनी विशिष्ट बैजिक शक्ति के अनुसार प्रभाव डालने में समर्थ है, हम उसके भौतिक प्रभावों का ही उल्लेख करते आ रहे हैं।

१९१—पवित्रीकरण में भी इसी प्रकार का असर मौजूद रहता है, मगर उसकी ख़बर आध्यात्मिक घाट पर पड़ सकती है जिस प्रकार कि भौतिक प्रभाव भौतिक मंडल ही पर पड़ते हुए देखने में आते हैं। वह भक्त जिसकी चेतन शक्ति किसी क़दर विकसित हो गई है, स्पर्श द्वारा पवित्र की हुई वस्तुओं के प्रयोग करते ही क़रीब क़रीब तुरन्त उनके चैतन्यमय प्रभाव का अनुभव कर सकता है, चाहे उसे यह मालूम भी न हो कि जो वस्तु वह प्रयोग कर रहा है, स्पर्श द्वारा पवित्र की हुई है।

१९२—अगर यह सत्य है कि किसी के उपयोग में आई हुई वस्तु के द्वारा सम्मोहन विद्या द्वारा वशीभूत व्यक्ति उस पुरुष से आसानी से ताल्लुक़ पैदा कर सकते हैं तो इससे ऊपर बयान किए हुए उसूल की तसदीक़ हो जाती है। शिकारी कुत्ते भी कमोबेश इसी तरह शिकार का पता लेते हैं। शिकार का जानवर रास्ते में जो कुछ[1] छोड़ता जाता है, उसी की मदद और वसीले से शिकारी कुत्ते उसका पता लगा लेते हैं।

---

१ जैसे—गंध ।

१९३—बिजली का जो कि एक तौर पर सब तत्वों को चैतन्य करने वाली है, चैतन्य शक्ति से सबसे ज्यादा सादृश है। इसलिए जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया जा रहा है, उसकी पुष्टि में यह कहना असंगत न होगा कि जिस प्रकार किसी वैद्युत पदार्थ के सम्पर्क में आने से संपृक्त पदार्थ में बिजली आ जाती है जिसकी मात्रा ठीक उस वैद्युत पदार्थ के विद्युत परिमाण की तीव्रता के अनुसार होती है, इसी तरह गतिवान् पुरुषों के जिनके शरीर में बहुत ऊँचे घाट की चैतन्यता बहुत बड़ी मात्रा में भरी हुई रहती है, उनके सम्पर्क में जो भी वस्तुएँ आती हैं, उन सब में उनकी चैतन्यता प्रवेश कर जाती है।

१९४—यहाँ यह कह देना वांछनीय प्रतीत होता है कि ऊपर बयान किए हुए उसूल के साबित करने में सादृश्य के तर्क का जो प्रयोग किया गया है, उन दोनों में केवल स्पर्श के अंग के सादृश्य पर ही ध्यान रखना चाहिए। अन्य अंगों में मेल मिलाने की कोशिश की जावेगी तो व्यर्थ की झंझटें उठ खड़ी होंगी और विधि विरोध बातें आ जावेंगी।

प्रकरण ५९

मंत्रों का उच्चारण

१९५—अब हम आध्यात्मिक विकास और उन्नति की तीसरी विधि यानी चैतन्य नाम के उच्चारण की जिसको साधारण बोलचाल में पवित्र नाम का अंतरी सुमिरन कहते हैं, व्याख्या करेंगे।

१९६—अंतर में प्रार्थना करना मामूली तौर पर पवित्र नाम के सुमिरन करने के बराबर ही समझा जाता है। मगर बात ऐसी नहीं है। यह नीचे की व्याख्या से विदित होगा। जिन पवित्र नामों की हम चरचा कर रहे हैं उनका उच्चारण, उनसे जो शाब्दिक अर्थ ध्वनित होता है उसे फलित करने के उद्देश्य से नहीं करते। इन नामों का अपनी अपनी विशिष्ट विधि से उच्चारण मात्र ही अपना अपना लक्षित आवश्यक फल देते व वशीकरण का प्रभाव प्रकट करने में समर्थ समझे जाते हैं। ऐसे पवित्र नामों को आध्यात्मिक भाषा में 'मंत्र' कहते हैं।

१९७—इन नामों में से कुछ के भीतरी जाप से शिष्य को, मंत्र साधना पूर्ण कर लेने पर, दूसरों के जो उसके संपर्क में आवे हृदय के भाव और इच्छाओं पर नियंत्रण प्राप्त हो जाता है। ऐसे नामों को 'वशीकरण मंत्र' कहते हैं। अन्य कुछ ऐसे नाम हैं जिनका प्रभाव मारक है और कहा जाता है कि जब वे सिद्ध कर लिए जाते हैं तो किसी वस्तु को नष्ट कर देना या विरोध पर विजय पा जाना कोई मुश्किल काम नहीं है।

प्रकरण ६०

पवित्र नामों के सुमिरन के सिद्धांत की व्याख्या

१९८—अब हम पवित्र नामों के प्रतिपादित महात्म्य के स्वरूप का विवेचन करेंगे।

१९९—इस पुस्तक के पिछले भागों में हमने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि मनुष्य देह की व्यवस्था आकस्मिक नहीं है, बल्कि इसका आधार कुल्ल रचना की व्यवस्था है। लघु-विश्व यानी नर शरीर के मुख्य विभाग और उप-विभाग बृहत्-विश्व यानी कुल्ल रचना के विभाग और उप-विभागों के ठीक अनुरूप हैं और दोनों के भागों विभागों में परस्पर संबंध उन छिद्रों या रंध्रों द्वारा स्थापित है जो कि मनुष्य शरीर के वात या ज्ञान केन्द्रों के अंतर में बने हुए हैं और जो नाड़ी-ग्रन्थियाँ मनुष्य शरीर में हैं, वे गोया छोटे पैमाने पर बृहत् रचना के अनेक मंडल हैं। इससे नतीजा निकलता है कि बाहर रचना में जो धारें काम कर रही हैं, वे लघु रूप में मनुष्य शरीर में विद्यमान हैं।

२००—हम (प्रकरण २८ और ३० में) यह भी विस्तारपूर्वक समझा चुके हैं कि सब धारें अर्थात् क्रियाशील शक्ति से निःसृत प्रवाह शब्द से गुंजायमान हैं जो कि सर्वत्र और सर्व ओर सुना जा सकता है बशर्ते कि उसकी सुनने की कुदरती अंदरूनी ताक़त जो कि हमारी सुरत में सोई हुई है, जगा ली जावे। स्वर-माधुर्य के नियमों के अनुसार ये शब्द अपने अनुकूल या प्रतिकूल शब्दों से सहयोग या विरोध करते हैं।

२०१—प्रत्येक मंडल की सम्हाल उसके केन्द्रीय अधिष्ठातृ देवता या धनी द्वारा होती है जो उस मंडल की विशिष्ट शक्ति या चैतन्यता का भंडार या केन्द्र है। वहाँ पाई जाने वाली शक्ति की धारें वहाँ के धनी से निकलती हैं और प्रत्येक धार के साथ उसका निजी शब्द हो रहा है। उस मंडल से ताल्लुक़ रखने वाला जो नाड़ी केन्द्र हमारे शरीर में है, उसमें उसी प्रकार की धारें रहती हैं। मगर वह धारें उसी तरह क्रियाशील नहीं हैं जिस तरह कि उस मंडल के धनी से निकलने वाली धारें होती हैं। इस भौतिक शरीर की सम्हाल के संबंध से जो उस मंडल की धारों का विशिष्ट कार्य है, उसे ये (नाड़ी केन्द्रों की) धारें संपादित करती हैं मगर उनकी अंतरी क्रियाएँ जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान का होना, समझना बूझना और नियमन, निष्क्रिय या सोती पड़ी हुई हैं।

२०२—जिस मंडल के धनी से जो ध्वन्यात्मक शब्द निकल रहा है, उस शब्द की नकल वर्ण में जिस शब्द या नाम में हो उस नाम का अंतर में उस मंडल से संबंध रखने वाले चक्र पर यदि जाप या सुमिरन किया जावे तो इस क्रिया से उस चक्र में स्पंदन या कंप पैदा होंगे और ज्यों ज्यों यह अभ्यास बढ़ता जावेगा वे कंप, होते होते उस मंडल में प्रत्यक्ष में हो रहे ध्वनात्मक शब्द के कंपों से एक स्वर होने लगेंगे और जब दोनों प्रकार के कंप सम्पूर्ण अंग में एक-स्वर हो जावेंगे तब वे एक दूसरे से मिल कर प्रतिध्वनित होने लगेंगे और एक हो जावेंगे जिस तरह कि सुर साधने का धातु का द्विशाखा जब किसी बाजे से एक-स्वर होता है तो एक के बजने से दूसरा अपने आप प्रतिध्वनित होकर बजने लगता है।उस मंडल के धनी अर्थात् मालिक में जो अंतरी शक्ति और क्रियाशीलता है, वही सब अभ्यासी में आ समावेंगी और वह धनी अपने मंडल में जिस बड़ी शक्ति को धारण करता है उसको अभ्यासी उस धनी के पवित्र नाम को अपने अंतर में उच्चारण कर, अपनी इच्छानुसार परिचालित कर सकता है। आध्यात्म विद्या में इस प्रकार पवित्र नाम के सर्व सामर्थ्य को प्राप्त कर लेने को 'मंत्र सिद्धि' कहते हैं।

२०३—अंतर में नाम का सुमिरन या जाप बहुत मुद्दत तक कमोबेश ऊपरी होता है क्योंकि हम लोगों की सर्व प्रवृत्तियाँ बहिरमुख होती हैं जिससे अंतरी जाप असली स्वर वाले तार को छेड़ने ही नहीं पाता। उल्लिखित बहिरमुख प्रवृत्तियों से सुमिरन के समय अनेक प्रकार के विचार और गुनावन चित में उठने लगते हैं जिनके कारण ध्यान का बिखर जाना एक बड़ा भारी विघ्न है और इसलिए पवित्र नाम का सुमिरन जितना कारगर होना चाहिए, नहीं हो पाता। अभ्यास के समय इसलिए एक बड़ा युद्ध छिड़ जाता है और जब तक बहिरमुख वृत्तियों पर अल्पाधिक मात्रा में विजय न प्राप्त कर ली जावे, तब तक जिस चक्र पर कि सुमिरन किया जा रहा है, उस चक्र की धारें उचित रीति से कार्य क्षेत्र में नहीं लाई जा सकतीं और न पुष्ट की जा सकती हैं।

२०४—मायिक वस्तुओं की चाहें अथवा बहिरमुख वृत्तियाँ जिनके विषय में हम बात करते आ रहे हैं, जन्म से मानो दिन में लगभग चौबीसों घंटों बहिरमुख कार्रवाइयों के करने से पैदा और मज़बूत हुई हैं। इसलिए इनसे विपरीत अवस्था का यानी अंतरमुखता का ज़रा देर रोज़ाना कुछ महीनों या कुछ वर्षों के अभ्यास करने से प्राधान्य नहीं हो सकता।

२०५—जो लोग पवित्र नाम के सुमिरन का अभ्यास करते हैं, उनको उसकी ठीक विधि नहीं मालूम है और अगर वह विधि पूर्वक इस अभ्यास को कर भी लेते हैं तो उनको भेदी गुरु नहीं मिलते जिनकी मदद और रहनुमाई (पथ प्रदर्शन) में अंतर की चाल चल सके। यही वजह है कि आजकल आम तौर पर यह ख़याल किया जाता है कि अब मंत्रों अथवा पवित्र नामों में वह शक्ति नहीं रही जो कि उनमें पहले थी। मगर यह बात ठीक नहीं है। नामों या मंत्रों का प्रभाव पहले जैसा अब भी मौजूद है, मगर पहले की तरह रास्ता बतलाने वाले या चाल चलाने वाले व सिखलाने वाले गुरु आसानी से अब नहीं मिलते।

२०६—जो कुछ हमने ऊपर कहा है उससे कम से कम यह सिद्धांत स्थापित होता है कि स्वर-माधुर्य के नियमों के अनुसार किसी मंडल के धनी से निःसृत शक्ति के साथ जो ध्वनियां निकल

रही हैं उनकी वर्ण में जो नक़ल है उन शब्दों का अर्थात् वर्णमय नाम का (बिना उसके अर्थ का विचार किए), उस मंडल से संबंध रखने वाले चक्र पर अंतर में जाप या सुमिरन करने से उस धनी की शक्ति व अधिकार प्राप्त हो सकते हैं । इसी सिद्धांत का उल्लेख ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती ने इन कड़ियों में फ़रमाया है :—

मियाने इस्मो मुसम्मा चो फ़र्क़ नेस्त बबीं ।
तो दर तजल्लीये अस्मा जमाले नामे ख़ुदा ।।

अर्थात्

नामी व नाम में है नहीं फ़र्क़ देख ले ।
छबि यार की दिखाता है वह तेज नाम का ।।

२०७—रामायण के प्रसिद्ध रचयिता तुलसीदास जी ने भी यही बात इस तरह से कही है :—

गिरा अर्थ जल बीचि सम ।
कहिय त भिन्न न भिन्न ।।

यानी नाम और नामी, जल और उसकी लहर के समान हैं। कहने को दो हैं, वरना दोनों में कोई फ़र्क़ नहीं है। इसलिये दोनों में कोई भेद नहीं करना चाहिए।

२०८—'नाम' से हमारा मतलब अनेक मंडलों में जो शब्द हो रहे हैं, उनके वर्ण से है। इन्हें मामूली नामों से जो चीज़ों, विचारों और भावों के नाम हैं, मिश्रित नहीं करना चाहिए।

प्रकरण ६१

अभ्यास की जुक्तियों का मुख्य उद्देश्य एक ही है

२०९—प्रकरण १५ से मालूम होगा कि परमार्थ के उद्देश्य की पूर्ति जिसकी व्याख्या इस पुस्तक के आरंभ में की गई है, सिर्फ उसी अवस्था में संभव है जब कि सुरत निर्मल चैतन्य देश में पहुंच जावे। आध्यात्मिक अभ्यास की जिन दो विधियों की व्याख्या की जा चुकी है, वे इसी उद्देश्य को पूरा करने के निमित्त निश्चित की गई हैं और तीसरी विधि का भी जिसकी अब व्याख्या की जा रही है, यही

अभिप्राय है। उपर्युक्त दोनों विधियों का मुख्य स्वरूप चैतन्य धार को पुष्ट करना यानी उसका समूह बनाना या समेटना और फिर सुरत की ऊपर को चढ़ाई करना है। सच्चे पवित्र नाम के सुमिरन के अभ्यास में भी जिसका बयान नीचे किया गया है, यही मुख्य बात पाई जाती है। इस पवित्र नाम की क्रियाशक्तियाँ केवल शुद्ध आध्यात्मिक और अंतर में खिंचाव पैदा करने वाली हैं जिनमें मन और माया की शक्तियों और वृत्तियों का लेश भी नहीं है।

प्रकरण ६२

मंत्रों और पवित्र चैतन्य नामों में भेद

२१०—निर्मल परमार्थ में उन नामों या मंत्रों की कोई क़ीमत नहीं है जो विनाश करने, वश में करने या हुकूमत और अख्तियार हासिल करने के लिए साधन का काम करते हैं और केवल उसी नाम की धारण की जाती है जिससे सुरत का मन और माया की दासता से छुटकारा हो। इसलिए हम किसी भी तरह ऐसे मंत्रों के जाप के पक्ष में क़तई नहीं हैं। उनका ज़िक्र यहाँ सिर्फ उसूल समझाने के लिए उदाहरण-स्वरूप किया गया है, वरना ये मंत्र संतों के मत के अनुसार शिक्षा दीक्षा व अभ्यास के कोई अंग नहीं हैं।

प्रकरण ६३

चैतन्य शक्ति का स्वरूप

२११—राधास्वामी दयाल द्वारा प्रकट किए हुए सच्चे पावन निज नाम का निरूपण करने से पहले हम सच्चे कुल कर्त्तार के प्रमुख प्रमुख स्वरूप-चिन्हों व चैतन्य शक्ति के, जिससे कि कुल रचना प्रकट हुई, परिचायक चिन्हों का निश्चय करना अभीष्ट समझते हैं।

२१२—यह प्रतिदिन के अनुभव की बात है कि कोई शक्ति बिना भण्डार व धारों के कार्य नहीं कर सकती । जब तक धारें विद्यमान नहीं रहतीं तब तक शक्ति निष्क्रिय प्रच्छन्न अवस्था में ही रहती है। धारों के उठने के पहले भंडार या सोत यानी केन्द्र में संक्षोभ

उत्पन्न होता है। धारों के उत्थान के साथ शक्ति अव्यक्त से स्वरूप, क्रिया-विरत अवस्था से क्रियावान् अवस्था में परिणत हो जाती है यानी निष्क्रिय से सक्रिय हो जाती है और अपना काम शुरू कर देती है। यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि यदि भंडार या केन्द्र न हो तो कोई धारें ही न उठें। ये ही सिद्धांत चैतन्य शक्ति के लिए भी लागू हैं। बल्कि यह कहना ज़्यादा सही होगा कि प्राकृतिक शक्तियों के जिन चिन्हों और गुणों की चरचा ऊपर की है उनकी आदि-उत्पत्ति का कारण शक्ति अर्थात् चैतन्य शक्ति के ही चिन्ह और गुण हैं।

२१३—इस दृष्टि से रचना का आरम्भ होने के लिए आवश्यक है कि परम पुरुष सच्चे कर्त्तार, चैतन्यता के अनन्त भण्डार, में पहले एक हिलोर या हलचल होवे और फिर उसमें से चैतन्य धारें निकलें। जब तक यह अवस्था प्राप्त नहीं हुई, तब तक कोई रचना नहीं हुई और न तब तक परम पुरुष ने अपने को कर्त्तार के रुप में प्रकट किया।

२१४—इस पुस्तक के उस भाग में जिस में रचना की उत्पत्ति, व्यवस्था और उद्देश्य का वर्णन किया है, हम यह पूर्ण विस्तार पूर्वक बतलावेंगे और विवेचना करेंगे कि किस प्रकार चैतन्य धारों द्वारा बृहत-विश्व की रचना खड़ी हुई। अभी सिर्फ इतना कह देना काफी होगा कि कुछ अंश में चुम्बक शक्ति के कार्य की तरह चैतन्य शक्ति क्रिया करती और अपनी क्रिया का एक क्षेत्र या मंडल बाँध लेती है।

२१५—चुम्बक शक्ति के क्षेत्र में प्रत्येक विन्दु का आकर्षण चुम्बकीय केन्द्र या शक्ति की ओर होता है। यदि हम केवल एक-केन्द्राभिमुखी प्रवृत्ति ही पर दृष्टि रक्खें तो उस शक्ति का केन्द्र से दूर, उस क्षेत्र में, फैले हुए होने का ख़याल रद्द हो जाता है। लेकिन अगर हम चारों ओर के आकाशीय तत्व के विद्युत्कणों पर होने वाली ध्रुवीय चुम्बकीकरण क्रिया पर भी ध्यान दें—और वह क्रिया यह है कि धनात्मक और ऋणात्मक विद्युत्कण छँट-छँट कर क्रमशः धनात्मक और ऋणात्मक ध्रुवों के चहुँ ओर एकत्रित होते हैं—तो वह विरोधाभास दूर हो जाता है और आकर्षण शक्ति की धारों का प्रकट होना समझ में आने योग्य हो जाता है। चैतन्य धार ने भी इसी प्रकार अपने को चैतन्य भंडार से प्रकट किया।

प्रकरण ६४

चेतनता के भंडार और धारों से निकलने वाले शब्दों में स्पष्ट पृथकत्व

२१६—चैतन्य धारों के निकलने से पहले चैतन्य भंडार में जो हलचल हुई, वह और स्वयं वे धारें, दोनों आद्य शक्ति के दो पृथक क्रियाशील रूपों में प्रकाशन थे और पूर्व प्रतिपादित सिद्धांत के अनुसार इन दोनों के साथ शब्द भी अवश्य हुए होंगे। यह लगभग अपने आप स्पष्ट है कि हलचल के साथ जो शब्द पैदा हुआ वह उस शब्द से भिन्न था जो धारों के साथ हुआ। भंडार के शब्द और धार के शब्द का यह भेद रचना के प्रत्येक मंडल के धनी या मालिक की चैतन्य शक्ति की क्रिया के अंतरतम में घटित होता है। मगर इस भेद पर किसी ने लक्ष्य नहीं किया और विविध धनियों की प्रकट क्रिया-शक्तियों के शब्दों ही को 'मंत्र' रूप दिया गया।

२१७—वेदों में प्रकाशित सबसे बड़े पवित्र नाम या मंत्र 'ओम्' में उसके आधारभूत धार भंडार के चैतन्य शब्द पृथक पृथक और साफ़ साफ़ लक्षित नहीं होते। वह तो ब्रह्मांड में ब्रह्म यानी ब्रह्मांडी मन की क्रिया शक्तियों के साथ होने वाले शब्दों की वर्ण में महज़ नक़ल है।

२१८—उस सच्चे कुल्ल-मालिक के सिवा जो कि चैतन्यता का आदि और सोत पोत और भंडार है, और किसी धनी की क्रिया-शक्ति के साथ होने वाले शब्द का पार्थक्य उन शब्दों से जो सुरत चैतन्य की धार और भंडार की कार्रवाई के साथ हो रहे हैं, निम्नलिखित दृष्टांत से स्पष्ट हो सकता है।

२१९—विचार क्रिया करने वाला हमारा आपा यानी मन, जैसा हम पहले कह चुके हैं, एक औज़ार है जो अपनी कार्रवाई के लिए सुरत चैतन्य के केन्द्र से प्राप्त होने वाली शक्ति पर निर्भर है। जब सुरत की चैतन्यता मन के घाट पर उतर कर आ जाती है, तब ही उसकी कार्रवाइयाँ शुरू होती हैं। इन कार्रवाइयों की विशेषता, सुरत चैतन्य की धार व केन्द्र की विशेषताओं से जिनसे इन्हें ताक़त व चेतनता मिलती है, सर्वथा भिन्न और पृथक है।

२२०—मन के घाट पर मन की विविध क्रिया-शक्तियों के शब्द और कंप, चैतन्य शक्ति के मन के घाट में से होकर गुज़रने का नतीजा हैं और ये उल्लिखित सुरत चैतन्य के शब्दों से उसी तरह भिन्न और अलग हैं जिस तरह कि नीले शीशे में से सफेद रोशनी के गुज़रने से पैदा होने वाली नीली रोशनी, सफेद रोशनी से भिन्न है। यदि शीशे के अन्दर घुस कर दोनों प्रकार के प्रकाशों को एक संग देखने की किसी में क्षमता हो तो उसे दोनों प्रकाशों का महान अंतर विशेष व स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ेगा। ऐसा ही अंतर उन मानसिक और आध्यात्मिक शब्दों में है जिनकी हम चरचा करते आ रहे हैं। मगर यह फ़र्क़ उन लोगों को नहीं मालूम पड़ता जिनकी पहुंच या गति सुरत के अंतरतम प्रदेश में नहीं है।

२२१—विविध धनियों और देवताओं के अपने कार्य संबंधी क्रिया से संबंध रखने वाले शब्द अर्थात् उन धनियों के प्रकट पवित्र नाम या मंत्र, ठीक इसी प्रकार उन अंतरी चैतन्य धारों के शब्दों से भिन्न हैं जो उन धनियों या देवताओं को चैतन्य शक्ति प्रदान करती हैं। कुल्ल-मालिक यानी चैतन्यता के मूल स्रोत पोत और आदि भंडार में इस तरह का भेद निकल जाता है क्योंकि वहाँ चैतन्य धार का प्रकटन ही स्वतः क्रिया या कार्य-रूप है।

२२२—सच्चे और कुल्ल-मालिक राधास्वामी के अवतार के अतिरिक्त जितने अवतार या पैग़म्बर इत्यादि आए, उन सब ने तदनुसार अपने अपने धनियों की क्रियात्मक शक्ति के नामों या मंत्रों को ही प्रकट किया है।

२२३—चूंकि सच्चा और सर्वोपरि निज ध्वन्यात्मक नाम या मंत्र सिर्फ़ वही बतला सकता है जिसकी गति कि चैतन्य के सोत पोत और भंडार में हो, इसलिए कबीर साहब ने जो कि उस धाम से संदेश वाहक के रूप में आए थे, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, एक जगह अपनी बानी में उस सर्वोच्च नाम या परम मंत्र का इशारा किया है। इसके बारे में हम अधिक निश्चय पूर्वक आगे चल कर जल्द कहने वाले हैं। बीच में हम उस नाम की घोषणा और उसकी व्याख्या करना चाहते हैं।

प्रकरण ६५

सर्वश्रेष्ठ या निज नाम 'राधास्वामी' की व्याख्या

२२४—प्रथम चैतन्य धार की जो कुल रचना की आदि व कारण है, वर्ण में नक़ल 'राधा' है। जिस हिलोर या हलचल से यह प्रथम धार यानी 'राधा' निकली, उसकी वर्ण में नक़ल 'स्वामी' है। रचना भर की कुल चैतन्यता का जो सोत और भण्डार है, उसका सच्चा पवित्र निज नाम अथवा परम मंत्र 'राधास्वामी' है। जब सच्चे और कुल्ल मालिक ने इस प्रकार अपने को कर्त्तार रूप में प्रकट किया और रचना का विकास किया तब चैतन्यता के प्रथम विकसित विस्तृत मंडल या देश में, हिलोर ने तथा धारों ने मिलकर उस कर्त्तार का 'राधास्वामी' शब्द या ध्वनि द्वारा परिचय दिया। यह सच्चा नाम रचना में हर जगह मौजूद है और अंतर के अंतरगत जहाँ चैतन्य धार चेष्टा रूप में है, यह नाम सुना जा सकता है।

२२५—जिस प्रकार सूर्य से निकलने वाली प्रत्येक किरण में सूर्य के सभी घटक अंग मौजूद रहते हैं, उसी प्रकार धार भंडार की, जो रचना शुरू होने के मूल घटक अंग हैं, प्रथम क्रिया की छाप सूक्ष्म से सूक्ष्म चैतन्य किरण तक चली गई है और यदि हम उसके परिवृत आवरणों को भेद कर अन्तर के अन्तर उस चैतन्य किरण के स्थान तक पहुँच सकें तो 'राधास्वामी' की ध्वनि छोटे परिमाण में सुन सकेंगे।

२२६—जिस प्रकार अन्य मंत्र या पवित्र नाम प्रकाश में आए, उसी प्रकार यह पवित्र 'राधास्वामी' नाम जिसकी उद्घोषणा ऊपर की गई है, राधास्वामी दयाल ने अवतार धर कर प्रकट किया।

२२७—चैतन्य धार और भण्डार के शब्द का वाच्य में अनुकरण 'राधास्वामी' ही होता है, इस बात को अगर कुछ प्रमाण के साथ सामने रक्खा जा सके तो वह और भी अधिक संतोषजनक होगा।

प्रकरण ६६

'राधा' और 'स्वामी' शब्दों के अनुक्रमण का कारण

२२८—इसकी व्याख्या करने से पूर्व यह वांछनीय है कि ऊपर के बयान से जो शंका या ग़लत-फ़हमी पैदा हो सकती है, उसको दूर कर दिया जावे क्योंकि चैतन्यता के भंडार में पहले मौज या हिलोर ज़रूर उठी होगी, तब बाद में चैतन्यता का प्रथम दर्शन यानी धार का निकलना हुआ होगा, तो यह प्रश्न स्वाभाविक ही उठता है कि पवित्र नाम 'स्वामीराधा' क्यों न होना चाहिए जबकि उसके प्रकटन का कार्य इसी क्रम से हुआ।

२२९—इस प्रकट अनियम का उत्तर यह है कि यह प्रकटन आकर्षण क्रिया द्वारा हुआ जैसा कि चुम्बकीय शक्ति द्वारा होता है (प्रकरण ६३ देखिए)। चूँकि हमेशा धारा का रुख भंडार की जानिब होता है, इसलिए जहाँ तक रचना का सम्बंध है उसकी क्रिया पहले होती है और बाद में भंडार का असर उस पर पहुँचता है। कहने का तात्पर्य, धारों के ही द्वारा भंडार कार्य करता है। इसलिए रचना की दृष्टि से ठीक क्रम, धार का होना पहले है और फिर भंडार का। इसीलिए 'राधास्वामी' नाम में व्यतिक्रम नहीं है।

प्रकरण ६७

'राधास्वामी' नाम के अलग अलग अंगों की व्याख्या

२३०—यह बात सहज ही अवलोकन में आ सकती है कि जब किसी आवाज़ मसलन सीटी, घंटा इत्यादि की नक़ल करना चाहते हैं तो उच्चारण करने वाले यंत्र को अर्थात् अपने मुँह और ज़बान आदि को जो बोलने के औज़ार हैं, ऐसी अवस्था में लाते हैं जो उस अवस्था से कमोबेश मिलती जुलती है जिसमें कि यह आवाज़ पैदा हुई थी।

२३१— यह हर कोई जानता है कि पवन-प्रचालित बाजों में नली के अन्दर वायु-स्तंभ में कंप पैदा किए जाते हैं और जब नली के खुले हुए मुँह द्वारा यह कंप बाहर निकलते हैं, तब बाँसुरी या अलगोज़े वग़ैरा की सी आवाज़ पैदा होती है। अगर हम बाँसुरी की आवाज़ की नक़ल करना चाहें तो हमको अपने उच्चारण-यंत्र यानी मुँह को इस प्रकार साधना चाहिए कि उसके अंदर एक नली सी बन जाय और हमारे होंठ उस नली का खुला हुआ सिरा बन जायँ। अब अंदर के वायु-स्तंभ में कंप पैदा करने से वह बाँसुरी की सी आवाज़ करता हुआ होठों के बीच में से बाहर निकलेगा। ऊष्म[१] वर्ण 'स' की आवाज़ जो मुख को उपर्युक्त रीति से साधने पर निकलती है, अवश्यमेव बाँसुरी के शब्द की नक़ल करने में भाग लेगी और यदि सीत्कारात्मक (सिसकार के उच्चारण का) या ऊष्म वर्ण 'स' का प्रयोग न किया जावे तो बाँसुरी की आवाज़ की नकल कदापि नहीं उतारी जा सकती।

२३२— इसी प्रकार घंटे की आवाज़ की नक़ल करने के लिए जो कि धातु के चक्के पर अथवा उसके बरतन पर कस कर चोट लगाने से पैदा होती है, दंतमूलीय[२] वर्ण के उच्चारण की आवश्यकता अनिवार्य है क्योंकि इस चोट या आघात की नक़ल मुँह में तभी बन सकती है जब कि "ट" वर्ण का उच्चारण करने में मुँह या दाँतों को समेटे हुए जिह्वा ऊपर के दाँतों के ऊपरी मूल भाग से टकराये। इसीलिए घंटे के शब्द की नक़ल अंग्रेजी भाषा में 'डिग डांग' और हिन्दुस्तानी भाषा में 'टन टन' शब्द से होती है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि दोनों शब्दों के आदि अक्षर दाँतों के ऊपरी मूल भाग से उच्चारित हैं और इस हेतु दंत मूलीय कहे जाते हैं और अन्त्य अक्षर अनुनासिक[३] हैं।

---

१ "श, ष, स, ह" ये अक्षर ऊष्म वर्ण कहलाते हैं। २ "त, थ, द, ध, न" अक्षरों का उच्चारण दाँत की सहायता से होता है, इसलिए ये दंत्य वर्ण कहलाते हैं। "ट, ड" का उच्चारण दांत की जड़ की सहायता से होता है, इसलिए इनको दंतमूलीय वर्ण कहा। ३ मुँह और नाक से बोले जाने वाले अक्षर, जैसे ङ,ञ,ण।

२३३—ऊपर के बयान से यह उसूल क़ायम होता है कि खास खास आवाज़ों की नकल मुँह से उतारने में खास खास अक्षरों या वर्णों का प्रयोग अनिवार्य है।

२३४—इसी उसूल पर अब हमें यह मालूम करना चाहिए कि सुरत चैतन्य की धार और भंडार की कार्रवाइयों के साथ प्रकट होने वाले शब्द की यहाँ की बोली में कौन कौन से वर्ण या अक्षर और मुखाकृति द्वारा नक़ल की जा सकती है।

२३५—हम पहले ही बयान कर चुके हैं कि चैतन्य शक्ति की कार्रवाई किसी क़दर चुम्बकीय शक्ति के अनुरूप है। इसलिए चुम्बकीय शक्ति के क्षेत्र में पाई जाने वाली अवस्थाओं की परीक्षा करने से हमारा हेतु सिद्ध हो सकता है।

२३६—रचना विकसित होते समय आकाश की जो अपनी स्वाभाविक अवस्था प्राप्त हुई, वह एक वर्ण[१] समूह की है। और उसका दो अंगों में, जिनका वर्णन पहले हो चुका है, विभेदन हो सकता है—एक धनात्मक विद्युत्कण और दूसरा ऋणात्मक विद्युत्कण। जब आकाश पर किसी वाह्य धरातल से शक्ति का प्रवाह होता है तब उसका दोनों प्रकार के विद्युत्कणों में विभेदन हो जाता है, मगर रचना करने वाली शक्ति अपने स्वभाव के अनुसार फिर इन दोनों को अपनी पूर्व अवस्था में लाने की चेष्टा करती है। य ी वजह है कि धनात्मक और ऋणात्मक दोनों सिरे एक दूसरे को आकर्षित करते हैं और उन दोनों के बीच में एक उदासीन क्षेत्र बन जाता है। साफ भाषा में, चुम्बक शक्ति के क्षेत्र के दो ध्रुवों या सिरों के बनने की क्रिया, शक्ति के एक स्थान पर संग्रहीत होने और दूसरे स्थान पर खाली होने से वा एक स्थान पर अधिक और दूसरे पर न्यून होने के कारण है।

२३७—यदि हम चुम्बक शक्ति के क्षेत्र में एक एक विद्युत्कण पर ध्यान दें तो हमें मालूम पड़ेगा कि उन पर दो परस्पर विरुद्ध भाँति का दबाव पड़ रहा है। इसीलिए सभी विद्युत्कण सूक्ष्म

---

१ एक रस । एक ढंग का। समान।

दोलायमान अवस्था में रहते हैं। आकर्षण शक्ति के मंडल में सबसे पहले इसी प्रकार का परिणाम होता है। फिर इसके उपरान्त जो आकर्षण शक्ति प्रबल प्रभावयुक्त होती है, वह आकर्षण की धारों के रूप को धारण कर लेती है जो एक ही ओर को एक सी प्रवाहित थरथराहटों के ताँता बंध जाने से बनती हैं। सुरत चैतन्य की धार की कार्रवाई भी किसी अंश में इसी तरह की है।

२३८—अब हमें देखना और ज्ञात करना चाहिए कि किन किन वर्णों की ध्वनि तथा मेली से वाचा यंत्र या मुख में भी तादृश[१] क्रियाशील अवस्था पैदा हो सकती है।

२३९—"र" वर्ण की ध्वनि एक ऐसी है जो जिह्वा के अत्यंत थर्राने से पैदा होती है। इसलिए चाहे जिस स्थान पर सुरत चैतन्य की धार की कार्रवाई के साथ जो ध्वनि हो रही है और जो थरथराहट लिए हुए है, उसका वाचा में अनुकरण करने के लिए सबसे पहले "र" वर्ण का प्रयोग करना पड़ेगा। उसके उपरान्त केन्द्र की ओर आकर्षण रूप प्रवाह की नकल ज़बान से उतारने के लिए दंत्य-महाप्राण[२] वर्ण-ध्वनि के अनुकरण करने की आवश्यकता होगी जिसके उच्चारण करने के लिए पहले स्वाँस को अन्तर में खींचने की ज़रूरत पड़ेगी। इसलिए सुरत चैतन्य की धार की कार्रवाई के साथ होने वाले अति सूक्ष्म शब्द की वाचा में निकटतम बराबरी 'राधा' से होती है।

प्रकरण ६८

रूपों की आदि

२४०—हम कह ही चुके हैं कि सुरत चैतन्य का भंडार सच्चा कुल-मालिक है। वह अनन्त अपार और मुहीते कुल है अर्थात् अपने

---

१ उसके समान। २ (व्याकरण) के अनुसार वह वर्ण जिसके उच्चारण में प्राण वायु का विशेष व्यवहार करना पड़ता है। हिन्दी वर्णमाला में प्रत्येक वर्ण का दूसरा तथा चौथा अक्षर महाप्राण है, जैसे : ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध।

में सब को समेटे हुए है या सबको परिवेष्टित किए हुए है और सारी रचना केवल एक किनका या कण मात्र है, जैसे कि आकाश में बादल का एक छोटा सा टुकड़ा। रचना में जितने भी रूप देखने में आते हैं, उन सब में छाप उस अनंत 'रूप' की मौजूद है जो कि उस कुल्ल-मालिक ने सर्वप्रथम धारण किया क्योंकि वास्तव में रूप और कुछ नहीं है, सिवा उसके जिससे कि शक्ति का प्रभाव किसी वस्तु पर पड़ने से उस वस्तु के क्रम की नई व्यवस्था हो जावे और प्रथम शक्ति जो है वह कुल्ल-मालिक से निसृत है।

प्रकरण ६९

आदि रूप

२४१—जो अनन्त और अपार या असीम है, उसमें रूप कैसे ? यह विचार, रूप की कल्पना का बाधक है। तब भी उस अनन्त में रूप का आरोप असंगत नहीं है जबकि उस असीम में आदि सुरत की धार प्रकट होने पर पहली मर्यादा या सीमा स्थापित हो गई।

२४२—हम कह चुके हैं कि धार प्रकट होने से पहले सोत में हिलोर उठी। जहां या जिस भाग में यह हिलोर उठी, वह प्रथम भंडार या चेष्टा का प्रथम केन्द्र है। इस भंडार का रूप भी, अन्य शक्ति-केन्द्रों की नाईं अंडाकार था। शक्ति की क्रिया के स्वाभाविक रूप जो प्रकृति में देखने में आते हैं, अंडाकार होते हैं। उन पर अचूक उस प्रथम रूप की छाप प्रकट अंकित है।

प्रकरण ७०

शब्द जो चैतन्य भंडार में प्रथम हिलोर के साथ हुआ

२४३—प्रथम हिलोर के रूप को जानने का हमारा उद्देश्य यह है कि प्रथम चैतन्य भंडार के प्रकटन के साथ जो शब्द हुआ, उसका वाचा में निकटतम अनुकरण क्या होना निर्धारित किया जाय।

२४४—पूर्व कथित सिद्धांत के अनुसार हमें अपने वाचायंत्र यानी मुँह आदि को ऐसी अवस्था में लाना होगा कि जो किसी क़दर अंडाकार शक्ल का हो और फिर ऐसे शब्द का उच्चारण करना होगा कि जिससे अंदर की तरफ़ केन्द्राभिमुख क्रिया पैदा हो। 'स्वामी' शब्द मुख से उच्चारण करने के साथ क्या क्या अवस्थाएँ होती हैं, उनकी जाँच करने से मालूम होगा कि इस शब्द का पहला हिस्सा 'स्वा' मुँह में अंडाकार रिक्त स्थान बनाता है और दूसरा हिस्सा 'मी' मुँह को केन्द्राभिमुख क्रिया के साथ अंदर से बंद करता है।

२४५—चैतन्यता के प्रथम प्रवाह के साथ जो शब्द हुआ, उसका वाचा में निकटतम अनुकरण 'राधास्वामी' शब्द या नाम से होगा। हालाँकि हम जानते है कि इस नाम की प्रामाणिकता दरसाने में बहुत सा विवरण छूट गया है, फिर भी जो कुछ हमने कहा है उससे अधिक संभवता के साथ मान लिया जा सकता है कि यह प्रमाणीकरण कुछ अंश में अपूर्ण होते हुए भी तर्क से रहित नहीं है और यह कि पवित्र नामों की सफलता तथा रूप के विषय में जो कुछ पवित्र वाणियों के आधार पर कहा गया है उससे यह प्रमाणीकरण एक क़दम आगे है।

२४६—प्रमाणों का जो दर्शन हमने कराने का प्रयास किया है, उनकी मौलिक मुख्यता नहीं है, कारण कोई भी प्रतिपादन केवल सिद्धांत रूप में प्रभावात्मक नहीं हो सकता। सर्वत्र केवल परीक्षा और प्रयोग से ही अमली नतीजा निकलता है, इसलिए हम ज़ोर देकर यह कहेंगे कि उल्लिखित तर्क, प्रमाण और युक्तियों का विवेचन करते हुए अनुसंधान का, क्रियात्मक परीक्षण के बिना, अंत नहीं कर दिया जावे।

२४७—सुरत की बैठक के स्थान पर सिमटाव और एकाग्रता पैदा करने और बहिरमुख और मायिक शक्तियों पर विजय प्राप्त कराने में परम पवित्र नाम 'राधास्वामी' किस क़दर अपूर्व आश्चर्यजनक प्रभावशाली है, इस बात का अनुभव थोड़े ही दिनों के अभ्यास अथवा परीक्षा से हासिल किया जा सकता है, बशर्ते कि इस सर्वश्रेष्ठ तेजवान् नाम का सुरत द्वारा विधिपूर्वक सुमिरन या जाप किया जावे।

प्रकरण ७१

सर्वश्रेष्ठ नाम 'राधास्वामी' की ओर कबीर साहब द्वारा संकेत

२४८—हम यह कह चुके हैं कि कबीर साहब ने अपनी पवित्र वाणी के एक शब्द में उपर्युक्त परम पवित्र 'राधास्वामी' नाम का उल्लेख किया है। जिस कड़ी में हवाला दिया गया है वह यह कि:—

कबीर धारा अगम की, सतगुरु दई लखाय।
उलट ताहि सुमिरन करो, स्वामी संग मिलाय।।

अर्थ—कबीर साहब फरमाते हैं कि परम संत सतगुरु ने अगम की 'धारा' का लखाव कराया है। उसको उलट कर 'स्वामी' के संग मिलाओ और तब सुमिरन करो।

२४९—उलटने का मतलब यह है कि 'धारा' शब्द के दो वर्णों 'धा' और 'रा' को उलटना चाहिए। उन्हें उलटने से 'राधा' हुआ और जब इसको 'स्वामी' के संग मिलाया तो 'राधास्वामी' हुआ। इस नाम का सुमिरन करना चाहिए।

प्रकरण ७२

तीनों अभ्यास विधियों की सफलता का अलग अलग परिचय

२५०—सुरत चैतन्य की शक्ति जगाने और बढ़ाने तथा सुरत की ऊँचे देशों में चढ़ाने के तीनों अभ्यासों की व्याख्या हमने अब समाप्त कर दी।

२५१—सुरत की गुप्त या आन्तरिक शक्तियों के जगाने और सुरत को समेट कर एकत्र करने के लिए अभ्यासी से शुरू में यह दो अभ्यास कराये जाते हैं यानी एक, सुरत की बैठक के स्थान पर पवित्र नाम 'राधास्वामी' का अंतर ही अंतर जाप या आध्यात्मिक सुमिरन और दूसरा, जीते जागते सच्चे आध्यात्मिक यानी संत या साध गुरु के स्वरूप का ध्यान या चिंतवन। शुरू के इन अभ्यासों से सुरत में काफी

शक्ति आ जाती है जिससे कि वह बाद में शब्द को श्रवण करने की जुक्ति का अभ्यास कर सकता है। लेकिन शब्द अभ्यास प्रारंभ करने पर उपर्युक्त शुरू के दो अभ्यासों को छोड़ नहीं दिया जाता। वे ब-दस्तूर जारी रहते हैं और रोज़ाना किए जाने वाले आध्यात्मिक शिक्षा के अंग हैं।

२५२—बाद की अवस्था में यद्यपि सुमिरन और ध्यान की विधियों के अभ्यास सुरत-केन्द्र के बदले ऊँचे घाटों पर किए जाते हैं और वे वहाँ की शक्तियाँ जगाने में उसी क़दर कारगर होते हैं जिस क़दर कि सुरत की बैठक के स्थान पर लेकिन अगर गुरु या आचार्य रचना के दूसरे बड़े दर्जे (ब्रह्मांड) की गति वाले हों और यदि उनके रूप का ध्यान ब्रह्मांडी मन या ब्रह्म के देशों के परे किसी घाट पर किया जावे तो उससे कोई फायदा नहीं निकलेगा, बल्कि हठात् ऐसा करते रहने से निश्चय पूर्वक मार्ग में रुकावट का कारण होगा। इसलिए केवल निर्मल चैतन्य देश की गति वाले गुरु यानी संत सतगुरु के ही ध्यान का आदेश या विधान किया गया है।

२५३—ऐसे गुरु का यानी संत सतगुरु के रूप का ध्यान नीचे के चक्रों पर भी बहुत लाभदायक है क्योंकि इस क्रिया की कुशलता केवल विशुद्ध चैतन्य देश के केन्द्रों तक ही सीमित नहीं है। यही कारण है कि संत सतगुरु के रूप का ध्यान शिष्य को शुरू स्थान से ही कराया जाता है।

२५४—यही अंतर जो ऊपर में स्वरूप के ध्यान के विषय में कहा गया है, ब्रह्म के नाम यानी 'ओम्' और सर्व श्रेष्ठ 'राधास्वामी' नाम के सुमिरन के बारे में भी समझना चाहिए।

प्रकरण ७३

बीच की अवधि अर्थात् एक संत सतगुरु के अंतर्द्धान होने और दूसरे के प्रकट होने के बीच की अवधि में किसका ध्यान करना चाहिए

२५५—हम यह पहले कह चुके हैं कि राधास्वामी मत में केवल जीते जागते संत सतगुरु के रूप ही का ध्यान करने का आदेश

किया जाता है। इससे सहज यह नतीजा निकाला जा सकता है कि जिस समय संत सतगुरु मौजूद न हों तो ध्यान का अभ्यास मुल्तवी रक्खा जाय। लेकिन ठीक ऐसी बात नहीं है।

२५६—ऐसे समय जबकि गद्दी ख़ाली रहती है यानी जब जीवित गुरु विराजमान नहीं रहते, इस बीच की अवधि में पिछले यानी आखिरी संत सतगुरु के रूप का ध्यान किया जाता है और इससे सुरत का सिमटाव होता है लेकिन इस तरह के ध्यान से पैदा हुए सिमटाव में और जीते जागते संत सतगुरु का ध्यान करने से जो सिमटाव होता है, उन दोनों सिमटाव के दर्जों में फ़र्क़ है। अनुचित न होगा यदि कहें कि यह अंतर उसी प्रकार का है जैसे कि किसी मृत संबंधी अथवा परलोकगत मित्र का चित्र देखने से जो भाव उत्पन्न होते हैं और जो भाव उसी संबंधी या मित्र के जीवित रहते उनका खयाल करने से होते हैं, में है। पहली हालत में वियोग का दुःख मुख्य लक्षण रहता है और पिछली हालत में जीवित अभिरुचि और पारस्परिक स्नेह आनंद और सहायता, इन लक्षणों की प्रधानता रहती है।

प्रकरण ७४

अभ्यास की ठीक ठीक विधियाँ गुप्त रक्खी जाती हैं

२५७—अभ्यास की इन तीनों विधियों की जो व्याख्या हमने ऊपर की है, उसमें अभ्यास के मूल सिद्धांतों तथा अभ्यास करने से जो फल प्राप्त होते हैं, उन पर प्रकाश डाला गया है। अभ्यासों के करने की ठीक ठीक क्या विधि या क्रिया है, वह राधास्वामी दयाल द्वारा प्रकट किए हुए धर्म का गोपनीय (गुप्त) भेद है। वह गुप्त भेद केवल दीक्षा (अथवा "उपदेश") के समय बतलाया जाता है। लेकिन दीक्षा (या "उपदेश") में केवल जुक्ति की विधि ही समझाई जाती है, और अन्य कोई रीति व रस्म और लवाज़मे नहीं होते।

२५८—हाँ, दीक्षा या उपदेश लेने वाले व्यक्ति को स्पष्ट कह दिया जाता है कि ब-हैसियत एक शरीफ और भले आदमी के उसका

यह धर्म और कर्तव्य हो जाता है कि वह अभ्यास के इन तरीक़ों को किसी पर ज़ाहिर न करे। मगर कोई शपथ नहीं ली या कराई जाती क्योंकि जो शख्स गंभीरता पूर्वक किए हुए अपने वादे या बचन का पालन नहीं कर सकता, उसे अपनी प्रतिष्ठा का कोई ख़्याल नहीं। फिर उसकी शपथें भी वैसी ही बेकार हैं।

प्रकरण ७५

सांसारिक रहनी गहनी, राग द्वेष और वासनाओं का अभ्यास पर असर

२५९—हमारी बतलाई हुई आध्यात्मिक शिक्षण की विधि का कहाँ तक सफलतापूर्वक बन सकना संभव है, अधिकांश में इन बातों पर निर्भर है :— (१) सांसारिक अवस्थाएँ जो प्रत्येक अभ्यासी के पारिवारिक और सामाजिक जीवन के हिसाब से अलग अलग होती हैं, कैसी हैं ? (२) अभ्यासी का रहन सहन तथा खान पान क्या और कैसा है ? (३) उसका दूसरों के प्रति व्यवहार कैसा है (४) नाम और कीर्ति की ख्वाहिश की प्रबलता कैसी है ? (५) संपत्ति और संबंधियों के साथ बंधन की पुष्टता कितनी है ? और (६) अन्यान्य सांसारिक बंधन क्या हैं ? इन सब मामलों में अभ्यासी को किन किन नियमों का पालन करना चाहिए, इत्यादि बातों का वर्णन इस पुस्तक के अंतिम भाग में किया गया है जहाँ जीवों द्वारा किए हुए 'कर्मों' पर एक अलग अध्याय है।

२६०—फिलहाल, रचना कैसे पैदा हुई, उसका इंतज़ाम और उद्देश्य क्या है, इत्यादि बातों का हम वर्णन और व्याख्या करेंगे क्योंकि रचना के अधिवासियों के कर्मों पर रचना के नियमों का भारी असर पड़ता है। इसलिए बिना रचना के नियमों से भली भाँति परिचित हुए, कर्मों का हिसाब पूर्ण रूप से समझना नहीं हो सकता।

भाग ३

रचना का प्रकटन

अर्थात्

रचना का सच्चा प्रादुर्भाव, व्यवस्था और अभिप्राय

प्रकरण ७६

रचना से पूर्व की अवस्था

२६१—रचना की आदि के वर्णन करने में पहले यह जानना आवश्यक है कि रचना अर्थात् सृष्टि के विकास के पूर्व क्या अवस्था थी। अतः हम उस अवस्था की रूपरेखा का वर्णन करते हैं।

२६२—चूँकि विज्ञान सिर्फ उन्हीं सिद्धांतों और अनुमानों को मानता है जिनका आधार हमारा अनुभव हो, इसलिए उक्त अवस्था की रूपरेखा का चित्रण करने के लिए हमें अवश्य करके आवश्यक सामग्री जो हमारे ज्ञान की सीमा के अन्तर्गत हो, प्रकृति से लेने की चेष्टा करनी चाहिए।

२६३—रचना की प्रत्येक वस्तु की यदि हम विध्वंस क्रिया आरंभ करें तो खंड खंड होते हुए परिणाम में द्रव्य की सूक्ष्मतर अवस्थाओं की एक ऐसी विकृति घटित होगी कि जिसके अंत में उसके साथ शक्ति ही मिश्रित रह जावेगी, मगर उसमें अलग-अलग

भिन्न भिन्न ऊँच नीच दर्जे दृष्टिगोचर हो सकेंगे जैसे कि अभी रचना में इस वक्त पाए जाते या मौजूद हैं। हम इस अवस्था को, इससे अच्छे शब्द की अनुपस्थिति में, 'शक्ति का निम्न स्तर' कह सकते हैं। यदि ऐसा न होता तो जो रचना कि अब मौजूद है, हो ही नहीं सकती थी। कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि जिस प्रतिज्ञा का प्रतिपादन हमने ऊपर किया है, उसका आधार एक निर्विवाद और असंदिग्ध सत्य है कि वर्तमान रचना उपर्युक्त रीति से उलटाई जा सकती है या लय को प्राप्त हो सकती है।

२६४—शक्ति की अपेक्षा द्रव्य का यह विशेष लक्षण है कि वह शक्ति का प्रतिबन्धक है। पदार्थ की मात्रा के कण कण के अंतर में—चाहे वे कण परमाणु हों, चाहे विद्युत्कण हों या उनसे भी सूक्ष्मतर अवस्था में हों, जो शक्ति समाई रहती है, वह सदैव सिमटी हुई बंद पड़ी रहती है। यदि हम अपनी इस छानबीन को सीमांत तक ले जावें तो स्वाभाविक है कि हम एक ऐसी अवस्था पर पहुँच जावेंगे कि जहाँ असंख्य बिन्दुओं का बना हुआ एक क्षेत्र होगा और उन असंख्य बिन्दुओं पर शक्तियों की असंख्य केन्द्राभिमुखी धारें काम कर रही होंगी जिसके कारण मानो शक्ति का एक रिक्त स्थान उत्पन्न हो जावेगा। यही कारण है कि बिन्दुओं का यह उल्लिखित अंतिम विशिष्ट रूप, स्वयं शक्ति के रूप से पृथक पहचाना जा सकता था अर्थात् शक्ति **स्वयं उन बिन्दुओं में** लीन होकर अव्यक्त हो गई, यद्यपि उन बिन्दुओं के ही द्वारा शक्ति ने स्वयं अपने में एक-केन्द्राभिमुखी होने की क्रिया की।

प्रकरण ७७

आदि शक्ति में ध्रुवों का विभेदन

२६५—ऊपर जो शक्ति की अव्यक्त अवस्था लिखी है उससे हमारा क्या अभिप्राय है, उसकी व्याख्या और अधिक स्पष्ट रूप से करना उचित प्रतीत होता है। जब शक्ति किसी धरातल से जो उसका निजी या मूल धरातल नहीं है, हट कर अपने मूल धरातल पर आ जाती

है परंतु उसमें क्षमता दूसरे घाट पर प्रकट होने की है तो उसे उस घाट पर 'अव्यक्त या गुप्त' कहा जाता है।

२६६—शक्ति के इस प्रकार खिंच जाने से, जैसा ऊपर कह आए हैं, एक रिक्त स्थान पैदा हुआ और यही भाग आद्य शक्ति के शाश्वत ध्रुव-विभेदन का निम्न-ध्रुव बना। यदि इस प्रकार के शाश्वत ध्रुव-विभेदन का अस्तित्व न होता तो बाद में ध्रुवीकरण अर्थात् ध्रुवों का बनना असंभव होता और फिर प्राकृतिक शक्तियों में जहाँ तहाँ जिस प्रकार ध्रुव विभाजन देखने में आता है, उसका अस्तित्व ही न रहता।

प्रकरण ७८

परम पुरुष में शाश्वत ध्रुवीकरण

२६७—हम प्रकरण ११ और १३ में कह आए हैं कि सुरत चैतन्य की शक्ति ही आदि अथवा मूल शक्ति है और इसी शक्ति का भिन्न भिन्न कोटि के माध्यमों से संबंधित होने से प्रकृति की अन्य सम्पूर्ण शक्तियों का विकास हुआ। हम यह भी कह आए हैं कि इस आदि चैतन्य शक्ति का जो कि सर्व शक्तिमान, सर्व विचक्षण और सर्व आनन्दमय है, सोत स्वयं परम पुरुष कुल्ल-मालिक है। जो कुछ हमने कहा है, उससे यह नतीजा निकलता है कि स्वतः कुल्ल-मालिक में ही शाश्वत ध्रुवीकरण था।

प्रकरण ७९

दो ध्रुव

२६८—जिस प्रांत या भाग से चैतन्य शक्ति किसी क़दर खींच ली गई थी (व भास रह गया था), उसे संत मत में पुरुष का चरण और जहाँ कि चैतन्य शक्ति परिपूर्ण अवस्था (अत्यंत समूह रूप) में थी, उसे उनका मस्तक कहते हैं। वैज्ञानिक भाषा में इन दोनों सघन और विरल ध्रुवों को क्रमशः 'धनात्मक आध्यात्मिक ध्रुव' और 'ऋणात्मक आध्यात्मिक ध्रुव' कह सकते हैं।

२६९—यहाँ यह बतला देना ज़रूरी है कि ऋणात्मक ध्रुव से कभी भी चैतन्य शक्ति पूर्ण रूप से शून्य नहीं हुई। वहाँ भी काफी

चैतन्यता छूटी हुई थी (या भास था)। लेकिन उसकी तीव्रता में ज़रूर कमी आ गई थी। इस अनादि अवस्था की छाप स्थूल से स्थूल, घने से घने द्रव्य-कणों में भी मौजूद है क्योंकि वे बिल्कुल चैतन्यता से ख़ाली नहीं हैं।

२७०—जिस प्रकार के शाश्वत ध्रुवीकरण के अस्तित्व विषय में हम चर्चा करते आ रहे हैं उसकी भावना से, स्वाभाविक है कि असीम में सीम की भावना उठ सकती है, कारण हमारे ध्रुवीकरण के भावों में हमेशा दोनों ध्रुवों का सीमित होने का संबंध पाया जाता है। लेकिन अनंत और अपार अवस्था को समझने के लिए इन साहचर्य्य-भावों को सर्वांग घटित नहीं करना चाहिए। बल्कि इन दोनों ध्रुवों की चैतन्य शक्ति की तीव्रता में जो अवस्था का अंतर है (यानी समूहीकरण और भास का) केवल उसी पर ध्यान रखना चाहिए।

२७१—यदि न्यून-चैतन्य-ध्रुव को आकाश में तैरते हुए मेघखंड की तथा अधिक-चैतन्य-ध्रुव को आकाश की उपमा दें तो जिस ध्रुवीकरण का हम जिक्र करते आ रहे हैं उसका निकटतम ठीक लखाव हो सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस उदाहरण से सीमाबद्ध होने का भाव जो हमारे भावों की संगति से पैदा हुआ हो, एक दम दूर हो जाता है क्योंकि आसमान में बादल के मौजूद होने से आसमान महदूद या सीमाबद्ध नहीं कहा जा सक्ता।

प्रकरण ८०

उस असीम समूहवान ध्रुव का विभ्राजमान प्रकाशपुंज अनिर्वचनीय है

२७२—कुल्ल-मालिक सर्व शक्तिमान, सर्वज्ञ और सर्व आनन्दमय होने के अतिरिक्त सर्व प्रकाशमय भी है। जब प्रकृति की संपूर्ण शक्तियाँ विद्युत्सम सूक्ष्म अवस्था में परिणत कर दी जाती हैं, तब वे स्वतः को, परिवृत आवरण के प्रतिरोध से मुक्त होकर अति प्रकाशवान् अवस्था में प्रकट कर सकती हैं। अब सुरत चैतन्य की शक्ति का कितना नूर और प्रकाश न होना चाहिए जब कि चैतन्य

शक्ति विद्युत से कहीं सूक्ष्मतर है, बल्कि विद्युत् शक्ति को भी शक्ति प्रदान करने वाली है।

२७३—हमारी साधारण अनुभव और कल्पना की मनःशक्तियाँ इतनी क्षुद्र हैं कि उनके द्वारा उस अपरंपार वैभववान् परम पुरुष के दर्शन की उज्जवलता और आनंद की विशालता की महानता का कुछ भी अनुमान कर सकना असंभव है। यदि हमारी दृष्टि में इतनी शक्ति आ जावे कि एक ही बिन्दु पर एक ही समय में खर्ब खर्ब सूर्य्यों के इकट्ठा होने से जो प्रकाश और आनन्द प्रकट हो, उस अवस्था का हम ज्ञान प्राप्त कर सकें और उसके आनन्द में हम आनंदित हो सकें तो ऐसे प्रकाश और आनंद की ब-मुक़ाबले कुल-मालिक की शुभ्रता और तेज के वही हैसियत होगी जो कि एक बूंद पानी की ब-मुक़ाबले समुद्र और उसकी लहरों की महिमा व शोभा के है।

प्रकरण ८१

नीचे का ध्रुव रचना का आदिम स्थान है

२७४—ऊपर के बयान से परम चैतन्यता के अपार ध्रुव के अवर्णनीय प्रकाशपुँज का बहुत मोटा अनुमान लगाया जा सकता है। अब हम नीचे के ध्रुव की जो कुल-मालिक के चरणों में स्थित है, ऐसी ही रूपरेखा का वर्णन करेंगे।

२७५—तर्क के लिए रचना के उलटाव की क्रिया की कल्पना जो ऊपर समझाई गई, उससे स्वयं-स्पष्ट है कि कुल रचना नीचे के ध्रुव से प्रकट हुई। यदि इस रचना पर हम एक उड़ती हुई मोटी नज़र (विहंगम-दृष्टि) डालें तो मालूम होगा कि इसका वह हिस्सा जो हमारी दृष्टि की सीमा के भीतर आता है अगणित ज्योति-पिंडों से जिनको सूर्य, तारे, इत्यादि कहते हैं, जड़ा हुआ है। जैसा कि प्रकरण २२ में कहा गया है, यह क्षेत्र रचना के तीसरे दरजे में जिसे 'पिंड' कहते हैं, शामिल है। इसके परे रचना का दूसरा बड़ा दरजा है जिसको 'ब्रह्मांड' कहते हैं और जिसकी प्रभा और शक्ति पिंड की अपेक्षा कहीं अत्यन्त बढ़कर है।

२७६—जो कुछ हमने कहा, उससे स्पष्ट है कि इन दोनों दरजों में ही इस क़दर प्रकाश और शुभ्रता है जो हमारी मामूली दृष्टीन्द्रिय-शक्ति व कल्पना शक्ति से बाहर है। यदि हम पिंड और ब्रह्मांड के आलोक और तेज में निर्मल चैतन्य देश के आलोक व तेज को जो देश कि चैतन्य शक्ति के अपार और शाश्वत सोत के नीचे स्थित है, जोड़ दें तो नीचे के ध्रुव की शुभ्रता के सम्पूर्ण जोड़ का ज्ञान हो जावेगा। वैसे तो नीचे का ध्रुव स्वयं ही प्रकट में प्रकाश का एक प्रचण्ड पुँज या स्रोत है, परन्तु उस अपार स्रोत के परम प्रकाश की तुलना में, स्वाभाविक है, उसी प्रकार धूमिल मालूम होता था जैसे कि सूर्य के सर्वजित तेज और प्रकाश के सामने पूर्णमासी का चन्द्रमा मलिन-कान्ति और निस्तेज सा मालूम होता है।

प्रकरण ८२

आन्तरिक अनुभव भ्रम नहीं है

२७७—दोनों शाश्वत् ध्रुवों का वर्णन जो हमने किया है, वस्तुतः वह एक तुच्छ मानव बुद्धि के घाट का चित्रण है। लेकिन अगर कोई यह कहे कि मानव बुद्धि के घाट के चित्रण द्वारा वस्तु की वास्तविक स्थिति का भान नहीं कराया जा सकता तो ऊपर जो स्थूल निरूपण करने का प्रयत्न हमने ध्रुवों के सम्बन्ध में किया, उसकी शुद्धता संदेहास्पद हो जाती है। इसलिए उचित है कि इस विषय पर आगे बढ़ने से पहले उल्लिखित संभावनीय आक्षेप से जो संदेह हुआ, उसे हम दूर कर दें। ऐसा संदेह जिस तर्क के आधार द्वारा हो सकता है, उसका निर्देश, संक्षेप में, नीचे किया जाता है।

२७८—रचना जिसे हम देखते या अनुभव करते हैं उसका ज्ञान, हमारे भीतरी अंतःकरण पर जो संस्कार पड़ते हैं सदैव उनसे ही उत्पन्न होता है। इन आन्तरिक संस्कारों की अनुपस्थिति में रचना का कोई ज्ञान हमें हो ही नहीं सकता। ये नक्श कारज है और जो रचना ये नक्श पैदा करती है, कारण। अगर हमको कारज की खबर है तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि हमको कारण की भी खबर है। इसलिए अगर सब सचेतन जीव जो नक्श ग्रहण करते हैं, ग़ायब हो जावें तो कारण

ब-दस्तूर मौजूद रहेगा मगर कारज नहीं रहेगा और एक ऐसी हालत होगी जो कारज की अवस्था न होगी। इसलिए रचना का ज्ञान जो हमको प्राप्त है, वह सचेत जीवों के ज़रिये से प्राप्त किया हुआ (पर्दे का) ज्ञान है, स्वतन्त्र यानी बग़ैर ज़रिये के प्राप्त किया हुआ सत्य ज्ञान नहीं। इस तर्क का कोई खंडन नहीं कर सकता बशर्ते कि वह बात जो इस तर्क में मान ली गई है, सत्य हो कि केवल सचेत प्राणियों ही में मानसिक ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता है और सिवा उनके रचना में कोई नहीं है जिसमें यह योग्यता हो।

२७९—प्रत्युत जो हम प्रकरण १६ से २२ में कह आए हैं, उससे प्रकट है कि कुल सचेतन जीव चैतन्य के अपार भंडार कुल-मालिक से निकली हुई भिन्न भिन्न दर्जों की किरनें हैं और सुरतों के परिचायक लक्षण बुद्धि, आनंद और चेतनता कुल-मालिक के उन्हीं स्वलक्षणों से पैदा हुए और सुरत ने जो अपने लिये देह तैयार की है, वह उसी तर्ज़ पर तैयार हुई है जिस ढंग से कि इस रचना का विकास हुआ है अर्थात् मनुष्य देह एक लघु-विश्व है जो वृहत्-विश्व का प्रतिबिंब है। कहना न होगा कि सुरत की बौद्धिक आन्तरिक शक्तियाँ भी कुल-मालिक की बौद्धिक या ज्ञान शक्ति की अत्यंत लघु रूप में एक प्रतिबिंब मात्र हैं।

२८०—इससे हम अनिवार्यतः इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि हमको रचना मुख्यतः उसी रूप में भासती है, जैसे कि कुल-मालिक को और यही रचना का सत्य और असली रूप है। इसलिए हमारा बौद्धिक ज्ञान यदि सत्य घटनाओं और आगमन तर्क के ठीक ठीक प्रयोग पर आधारित हो तो उस ज्ञान को यदि वह केवल सैद्धान्तिक हो तो भी भ्रमों के वर्ग में नहीं रक्खा जाना चाहिए।

प्रकरण ८३

सघन ध्रुव विरल ध्रुव से विभिन्न

२८१—उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि रचना से पूर्व केवल एक परम सत्व कुल मालिक ही मौजूद था और वह निस्संदेह, पूर्व वर्णित, चैतन्य की सामुहिक या सघन-पुंज अवस्था में था। वह

अत्यन्त आनंद की अवस्था या चैतन्य समाधि में अपने में आप रत और मगन था मानो अपार परम चैतन्यता का संपूर्ण समूह मिलकर वह एक पुरुष निर्मित हुआ हो। उस परम सत्व में रूप, रंग, रेखा कुछ नहीं था। महा प्रेम, महा आनन्द, महा प्रकाश, सर्वज्ञान और सर्व शक्ति, यह सब अपनी आत्यंतिक अवस्था में एक ही साथ उस भव्य परम पुरुष के स्व-लक्षण थे।

२८२—नीचे के ध्रुव में कम दर्जे की चैतन्यता के होने के कारण उसकी अवस्था परिपूर्ण चैतन्यता वाले ध्रुव अर्थात् परम पुरुष से, जिसका उल्लेख हो चुका है, किसी क़दर भिन्न थी। उस परम पुरुष को इस अवस्था का स्वाभाविकतया सर्वथा पूर्ण ज्ञान था, पर वह नीचे का ध्रुव स्वतः उस पूर्ण चैतन्यता की जो उसे चारों ओर से घेरे था—सर्वज्ञता में क्रियाशील रूप से भाग नहीं ले रहा था। वह अर्द्धचेत की सी हालत में था। इस ध्रुव में क्रमानुक्रम था यानी वह हिस्सा जो पुरुष से लगा हुआ था, ध्रुव के केन्द्र के समीपस्थ या ध्रुव पर ही अवस्थित भाग से ज्यादा चैतन्य था। जैसा कि पहले बयान हो चुका है, नीचे के ध्रुव में चैतन्यता की कमी, नीचे के ध्रुव के अधिकृत हिस्से से चैतन्यता के परम पुरुष की ओर खिंच जाने से हुई थी।

प्रकरण ८४

आदि में सुरतों की उत्पत्ति

२८३—रचना से पूर्व, सूक्ष्म आकर्षण द्वारा उल्लिखित खिंचाव होने के कारण नीचे के ध्रुव का अस्तित्व शाश्वत धुंधुकार की अवस्था में रहा। इस अवस्था को पैदा करने वाली आकर्षण की रेखाएँ अनन्त बिन्दुओं से बनी हुई थीं और उन सब का आकर्षण एक ही दिशा में था। यह सामुहिक आकर्षण ही उस चैतन्यता को सूचित करती थी जो हमेशा से कुल-मालिक के संसर्ग में थी और उसके ही कारण नीचे के ध्रुव की संपूर्ण अवस्था की ख़बर कुल-मालिक को थी। रचना केस्थूल से स्थूल और घने से घने हिस्से की भी उसे उसके अंतरतम भाग में मौजूद चैतन्य द्वारा चाहे वह कितना ही कमज़ोर क्यों न हो—ख़बर है। इस प्रकार अंतर के अंतरगत जो चैतन्य है, वह हमेशा

जागरूक है और सिर्फ बाहरी ग़िलाफ, कहा जाय तो कह सकते हैं कि, बेहोश रहता है। ध्रुवों केपृथक पृथक बिन्दुओं का, उनको उनके सामुहिक प्रवाह से भिन्न करके, पृथक पृथक करके, व्यक्तिगत विचार किया जाय तो वे बेहोश थे और ये ही विन्दु आदि में अलग अलग व्यक्तियां या सुरतें बनीं।

२८४—यहाँ फिर से यह कह देना वांछनीय है कि हमारी विन्दु सबंधी साधारण धारणा इस भाव के उत्पन्न करने में सहायक नहीं होनी चाहिए कि वे बिन्दु या सुरतें, अंतर्निहित गुप्त चैतन्यता के लिहाज़ से नगण्य थीं। मामूली लैम्प की एक किरन के मुक़ाबिले में सूर्य की एक किरन, प्रकाश और अन्य गुणों में बहुत अधिक शक्तिशाली होती है। निस्संदेह इन दोनों के प्रकाश में जो अंतर है उसे हम कदापि भूल नहीं सकते, कारण कि हमें दोनों के प्रभाव का अनुभव है। लेकिन उन अवस्थाओं में जिनमें कि तुलना की हुई दो वस्तुओं में से अनुभव केवल एक ही वस्तु तक सीमित है, हम लोगों का ज्ञान बहुधा बहुत भ्रामक होता है और साधारण शब्दों से भी भिन्न भिन्न लोगों के हृदय में भिन्न भिन्न चित्रण होता है। उदाहरणार्थ जब कभी हम 'सूर्य' के विषय में बात करते हैं तो 'सूर्य' शब्द से हमारे भीतर एक चकाचौंध कर देने वाली चमकीली थाली सदृश चीज़ का ख़याल जैसा कि हम उसको देखते हैं, होता है। लेकिन यदि अब किसी की दृष्टि इतनी तीव्र और विस्तृत हो कि वह सूर्य को अपने संपूर्ण महान विस्तार या पिंड व प्रकाश सहित उसी तरह देख सके जैसे कि हम नारंगी को देखते हैं तो वह व्यक्ति जब 'सूर्य' शब्द कहेगा तब उसका भाव हम लोगों के 'सूर्य' शब्द कहने के भाव से सर्वथा पृथक और भिन्न होगा। वैयक्तिक अनुभव अनुसार शब्दार्थ की यह विशेषता पूर्ण रीति से उन समस्त भावनाओं पर लागू है जिनको हम प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते आ रहे हैं।

२८५—उन बिन्दुओं या सुरतों को इसलिए तुच्छ चीज़ न समझना चाहिए, बल्कि उन्हें बहुत भारी अव्यक्त शक्ति और आकर्षण के केन्द्र समझना चाहिए कि जिन पर अपनी अपनी पृथक वैयक्तिक क्रियाओं के कारण जो कि उनकी सामूहिक क्रिया से

भिन्न हैं, आवरण पैदा होकर उनको सब ओर से परिवेष्ठित किए हुए हैं। इन उपवेष्ठन या गौण अवस्थाओं को, मुख्य-स्वर और उप-स्वरों से उपमा दी जा सकती है। रचना से पूर्व इन आवरणों के नीचे सुरतें जड़ निद्रा की सी हालत या जड़ समाधि में पड़ी थीं क्योंकि उनकी चैतन्यता का मुख्य भाग उस परम स्रोत के साथ सदैव अविच्छिन्न रूप से मिला हुआ था। इस सम्मिलित क्रिया से नीचे का कुल ध्रुव बना और व्यक्तिगत क्रियाओं से आवरण पैदा हुए।

प्रकरण ८५

आदि धार निकलने से पहले आदि भंडार में वेग उठा

२८६—हम कह चुके हैं कि बिन्दुओं की यह सम्मिलित क्रिया ही सनातन सूक्ष्म आकर्षण रूप में विराजमान थी। बहुत काल तक, जिसका कुछ अनुमान नहीं हो सकता, विषमता को आगे बढ़ाने में इस आकर्षण का कोई विशेष दृष्टिगोचर प्रभाव नहीं पड़ा। तथापि होते होते जब समय पूर्णता को पहुँचा तब इस आकर्षण का ज़ोर स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा। नीचे के ध्रुव में चैतन्यता की विरलता या न्यूनता पहले ही से थी। उस में ध्रुवीकरण की क्रिया और भी आगे बढ़ने लगी। दूसरे शब्दों में, जो चैतन्य पहले ही खिंच गया था उसमें और चैतन्य, धनात्मक ध्रुव कुल-मालिक अथवा चैतन्य के अनन्त सागर की ओर खिंच खिंच कर बढ़ने लगा और उस विरल भाग में आधार-तत्व या सार की और न्यूनता आ गई और वह कुल-मालिक से दूर हो गया।

२८७—यह क्रिया जो रचना शुरू होने से ठीक पहले हुई, कुछ काल तक जारी रही और उचित समय आने पर परम भंडार या स्रोत के उस हिस्से से **जो नीचे के ध्रुव के निकटतम था, चैतन्य की प्रथम बृहद् धार निकली।** अलबत्ता इस धार के निकलने से पहले उस हिस्से में महा वेग आया या हिलोर उठी थी। यह धार, अनादि सनातन अव्यक्तशक्ति का चुम्बकीयकरण क्रिया की भाँति

चेतनीकरण क्रिया द्वारा व्यक्त रूप में प्रकट होने का फल है। (देखिये प्रकरण ६३) इस क्रिया का उद्देश्य यही था कि आद्य चैतन्य स्रोत की संलग्नता में उसके-मानो-विस्तारक रूप में एक प्रांत सा बनने योग्य जो कुछ भी था, वह कुल्ल मालिक परम पुरुष के पर्यवेक्षण में रहे और उस प्रांत में इतनी अधिक चैतन्यता रहे कि चैतन्यता के परम स्रोत की अपेक्षा जो उसकी चैतन्यता की न्यूनता थी, उसमें अब अधिक सुस्पष्ट निम्न-ध्रुव-में-प्राप्त-विशिष्ट-अवस्थाएँ लागू न हों जिनके विषय में हाल ही में हम कहने वाले हैं।

प्रकरण ८६

शब्द और सुरत की धारें

२८८—चैतन्य शक्ति के एकी-करण सामर्थ्य को चैतन्य शब्द की धार और उसी शक्ति के केन्द्रीय-करण सामर्थ्य को सुरत की धार कहते हैं। दोनों एक दूसरे के आश्रित हैं। शब्द और सुरत एक ही शक्ति के दो रूप हैं। शब्द प्रेरक और सुरत एकत्रीकृत्य-केन्द्र है। शब्द आकर्षित करता है और सुरत से संचय होता है। दोनों धारों के इन्हीं दो विशिष्ट लक्षणों से बाद में चल कर प्राणि-रचना के अन्तर्गत स्त्री पुरुष का भेद उत्पन्न हुआ।

प्रकरण ८७

निर्मल चैतन्य देश और उसके छः उप-विभाग

२८९—चूंकि परम पुरुष स्वयं शाश्वत ध्रुवीकरण अवस्था में होने से वह साफ़ साफ़ तीन प्रथक प्रथक प्रदेशों में विभाजित था अर्थात् पूर्ण चैतन्यता का असीम प्रदेश, मध्यवर्ती तटस्थ प्रदेश और निम्न-ध्रुव प्रदेश, इसलिए रचना के समय शब्द और सुरत की जो धारें परम पुरुष से निकलीं और जो किसी अंश में प्राणियों की श्वासोच्छास की दो धारों के समान हैं, उनमें भी प्रत्येक में स्वतः तीन तीन विभाग उस प्रदेश में जो ठीक परम पुरुष के पर्यवेक्षण में था, पैदा हुए।

२९०—प्राणियों की श्वास क्रिया में जो अमृत वायु या प्राणप्रद वायु (ओषजन) भीतर जाती है, वह शरीर को रचने वाले मुख्य घटक

द्रव्य या अंश से मिल कर अंगारक या कर्ब-द्वि-ओषिद[1] वायु के रूप में बाहर निकल जाती है।

२९१—कुल्ल मालिक में सिवा उच्चतम निर्मल शुद्ध चैतन्य के और कुछ नहीं है, अतः बाहर निकलने वाले श्वास में भी इसी चैतन्यता का समावेश है। इसलिए जो धार कुल्ल मालिक से निकली यानी सुरत की धार, उसी क़दर चैतन्य है जैसी कि अंदर जाने वाली धार यानी शब्द की धार जो कि उसमें समा जाती है।

२९२—प्रथम वर्गीय तीन उप-विभाग यानी शब्द की धार के ध्रुवीकरण के फलस्वरूप तीन उपविभाग ये हैं :—राधास्वामी, अगम और अलख और द्वितीय वर्गीय यानी सुरत की धार के ध्रुवीकरण के तीन उपविभाग अनामी, सत्तलोक और भँवरगुफा हैं।

२९३—चूंकि सुरत की धार एक आकर्षण की धार है, चेतनीकरण की एक क्रिया द्वारा बाहर की ओर फैलने वाली है, इसलिए वह किसी क़दर शब्द की धार से जिसका कार्य एक शुद्ध आन्तरिक कार्य है, नीचे अवस्थित है। इसलिये ऊपर वर्णित द्वितीय वर्गीय तीन उपविभाग वाले स्थान, प्रथम वर्गीय तीन स्थानों की अपेक्षा कुछ नीचे अवस्थित हैं और चैतन्यता में भी वे किसी क़दर कम दर्जे के हैं।

२९४—इन उल्लिखित छःओं स्थानों में ये दोनों धारें एक दूसरी से स्पष्ट ज्ञात होने योग्य नहीं हैं। दोनों एक साथ मिल कर उसी तरह काम करती हैं जिस तरह कि चुम्बकीय शक्ति आकर्षित करने और चुम्बकीयकरण करने की क्रिया दोनों एक साथ करती है। तथापि इन दोनों धारों के अस्तित्व से ही ये छः स्थान बने।

२९५—यहाँ तक हमने चैतन्य देश के रचना होते समय के मुख्य विभागों की ही चर्चा की है। अब आगे इन स्थानों के धनियों और वासियों के बारे में कुछ अधिक विस्तारपूर्वक कहा जायगा।

---

१ लकड़ी का कोयला जलने से जो वायु उत्पन्न होती है।

प्रकरण ८८

निर्मल या शुद्ध चैतन्य देश के बासी

२९६—जब से कि सूक्ष्म आकर्षण की क्रिया अपने गुण को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने लगी, कोश या आवरण जो कि अलग अलग सुरतों की व्यक्तिगत क्रिया से पैदा हुए थे, और भी ज़्यादा पीछे छूट गए और अपने अपने अनुकूल स्तर पर जा ठहरे। सुरतें अपने आद्य अचेत आवरणों से इस प्रकार मुक्त हो जाने से मानो अपनी चिरंतन निद्रा से जाग उठीं, कारण, एक तो व्यक्तिगत धारें व्यक्तिगत आवरणों की संभाल के श्रम से मुक्त हो गई और दूसरे ऊँचे चैतन्य घाट पर खिंच जाने से वहाँ की अतिरिक्त चैतन्यता उन्हें प्राप्त हो गई।

२९७—यह जाग्रति सर्वथा उसी तरह की होती है जैसी कि जीव का आपा जब सुषुप्ति अवस्था के घाट से मोह निद्रा या लय अवस्था संबंधी आकाशीय रचना में जाता है, उस वक़्त होती है। मोह निद्रा या लय की इस अवस्था में जाने पर श्वासोच्छवास और समस्त भौतिक शरीर की रक्ताभिसरण क्रिया रुक जाती है क्योंकि अधिकांश चैतन्यता की धारें जो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं का आधार हैं, सूक्ष्म देह के घाट या भुवर्लोक की ओर खिंच जाती हैं। मृत्यु के समय भी जीव की यही अवस्था होती है। हाँ, उस वक़्त सुरत और भी अधिक ऊँचे घाट पर खिंच आती है। सूक्ष्म घाट पर पहुँचते ही सुरत सूक्ष्म शरीर धारण करती है जो क़रीब क़रीब स्थूल शरीर सा होता है मगर वह सूक्ष्म घाट के उपस्थित मसाले से ही बनता है। इसी प्रकार सुरतें जब अपने अपने आद्य जड़ीभूत कोषों से मुक्त होकर ऊपर के अधिक चैतन्य तल पर खिंच कर पहुँची, तब उन्होंने वहाँ के चैतन्य की काया धारण की।

२९८—ये विशेष चैतन्य तल उन जड़वत् स्तरों के बने हुए थे जो अपने और ऊपर के विशेष चैतन्य घाट से, ऊपर बयान की हुई आकर्षण क्रिया के कारण, झड़ कर नीचे गिरे थे। स्तरों के इस प्रकार स्थानान्तरित होने से उन स्तरों में भी जो नीचे गिरे, सुरत की सम्मिलित सचेतन धार की क्रियाशील शक्ति आ गई और वे भी इस

तरह समष्टि रूप में चेतना युक्त हो गए। अतः इस प्रकार के कोशों से बनी हुई काया, व्यक्तिगत सुरतों की जागी हुई क्रियात्मक चैतन्यता के लिए किसी प्रकार से बाधक नहीं हो सकती थी। नीचे या ऊँचे के अवस्थानों के अनुरूप इन सुरतों को हंस या परम हंस कहते हैं। ऊपर के तीन उपविभागों की बासी सुरतों को परम हंस और नीचे के उपविभागों की बासी सुरतों को केवल हंस कहेंगे।

२९९—यद्यपि निर्मल चैतन्य देश में स्त्री पुरुष का भेद चिन्हित नहीं है मगर फिर भी जिन हंसों में शब्द अंग का कुछ अंश में आधिक्य है, उनको पुरुषों की श्रेणी में और शेष को जिनमें सुरत अंग की विशेषता है, स्त्री श्रेणी में रक्खा जा सकता है। लेकिन यह बात यहाँ कह देना ज़रूरी है कि जिस प्रकार का स्त्री पुरुष का व्यवहार इस जगत में देखने में आता या समझा जाता है, वैसा कोई संबंध उन उल्लिखित दो वर्गों में नहीं है।

प्रकरण ८९

अगम पुरुष, आदि चैतन्य धार का प्रथम केन्द्र और चंद्र और सूर्य मंडलों का उत्पत्ति स्थान

३००—निज या परम भंडार से निकल कर आदि परम चैतन्य धार ने जो पहला केन्द्र बनाया, वही परम पुरुष राधास्वामी दयाल के अनन्त और अपार मंडल या धाम के नीचे के मंडल का प्रथम धनी हुआ। इस अधिष्ठाता पुरुष या धनी को अगम पुरुष कहते हैं। यह वही महान चैतन्यता का भंडार है जो रचना की क्रिया के समय आदि और परम स्रोत में खिंच कर उसके साथ तद्रूप हो गया था और जिसकी चैतन्यता परम पुरुष के संग के प्रताप से बहुत बढ़ गई थी और उसका आदि धार से संबंध स्थापित हो जाने के कारण उसकी वह बढ़ी हुई चेतना या आध्यात्मिक क्षमता सदा एक ही अवस्था में तब से स्थिर है।

३०१—चेतनीकरण करने के प्रभाव के अतिरिक्त, आदि चैतन्य धार के निकलने का बड़ा कारण यह था कि परम पुरुष स्वयं अपनी शाश्वत अवस्था के मूल तात्विकता के कारण उस चैतन्यता के किसी अंश को जिसे उसने रचना के पूर्व की सघन-विरल अवस्था में

अपने परम स्रोत की अपेक्षा नीचे का स्तर दे रक्खा था, सदा के लिए अपने में तद्रूप या रत नहीं कर सकता था। प्रत्युत जब इस कार्य का उचित समय आया, तब उस परम पुरुष ने उस चैतन्यता को अपनी निजी सार चैतन्यता से विशेष चैतन्यमय करके लौटा दिया। ऐसा करने का अत्यंत दयामय उद्देश्य यह था कि नीचे का ध्रुव स्वयं अपनी असंख्य सुरतों के साथ सचेत, आनन्द मय जीवन की अवस्था में लाया जावे और उसकी अव्यक्त चेतनता व्यक्त होकर सक्रिय जीवन में पलट दी जावे।

३०२—आदि चैतन्य धार के निकलने के साथ परम उज्ज्वलता का पुंज प्रकट हुआ जिससे चारों ओर के प्रदेशों में मानो ज्योतिर्बिम्बों से जिन्हें वैज्ञानिक भाषा में सूरज और चाँद कहते हैं, जड़ी हुई चादरें सी तन गई। शब्द शक्ति की प्रधानता से सूर्य और सुरत शक्ति की प्रधानता से चंद्रमा हुए। इन गोलों के द्वारा आदि भंडार की चैतन्यता उस उल्लिखित सारे मंडल को प्रदान हुई। रचना के जिस हिस्से में कि हम लोग रहते हैं, उसमें भी सूरज, तारे और अन्य बिंबों आदि द्वारा इसी प्रकार शक्ति विकीर्ण होती है। उपर्युक्त चैतन्यात्मक बिंब उस प्रदेश की सुरतों के या अधिवासियों के निवास स्थल भी बने। यहाँ यह कहने की ज़रूरत न होगी कि ये बिंब निर्मल चैतन्य देश की अन्य रचना की भाँति सचेतन और ज्ञानवान थे।

३०३—जिस देश के विषय में हम कह रहे हैं, वह परम स्रोत के उस विभाग के चहुं ओर अवस्थित है जिसमें से कि आदि चैतन्य धार निकली। अगम पुरुष द्वारा रचित मंडल इस विभाग के नीचे अवस्थित है। उसे इस हेतु परम पुरुष राधास्वामी दयाल के धाम का सु-महान प्रवेश-द्वार कह सकते हैं।

प्रकरण ९०

निर्मल चैतन्य देश के बाक़ी चार मंडलों की रचना

३०४—प्रथम केन्द्र के बनने में कुछ विलम्ब का लगना ज़रुरी था। जब वह पूरा बन गया, तब अगम पुरुष ने अर्थात् निर्मल चैतन्य

देश के दूसरे स्थान के धनी ने अपने को चैतन्यता के एक अत्यंत प्रकाशवान पारावार के रूप में प्रकट किया। इस सु-महान् समुद्र में आदि चैतन्य धार मानो अपनी चैतन्यता उडेल कर उसके नीचे अदृश्य हो गयी। इसके बाद अगम पुरुष द्वारा रचना की क्रिया उसी रीति से जारी रही जिस रीति से कि परम स्रोत द्वारा रचना की आदि क्रिया प्रचलित हुई थी। अगम पुरुष का मंडल और उस स्थान के सूर्य चंद्रमा आदि और वहाँ की अधिवासी सुरतों की रचना अगम पुरुष ने की। यही बात निर्मल चैतन्य देश के बाक़ी चार मंडलों की उत्पत्ति के विषय में भी समझनी चाहिए।

३०५—निर्मल चैतन्य देश के ऊपर और नीचे के तीन तीन स्थानों के प्रत्येक समूह में सब से ऊपर का स्थान नीचे के दो स्थानों को केवल चैतन्य शक्ति प्रदान करता है और उनकी रचना-विधि में क्रियात्मक भाग नहीं लेता। हमारे शरीर की व्यवस्था या इन्तज़ाम में भी किसी क़दर यही बात नज़र आती है। सुरत आवश्यक जीवन शक्ति प्रदान करती है, शरीर और उसकी क्रियाएँ चाहे वे सूक्ष्म हों या स्थूल, मन और मायिक शक्तियों से पलती व चलती हैं।

प्रकरण ९१

महासुन्न, इसके सूक्ष्म छः उपविभाग

३०६—हम यह कह चुके हैं कि निर्मल चैतन्य देश मानो एक प्रकार से स्वयं परम पुरुष के अनन्त और अपार प्रदेश का ही विस्तार है। इस प्रकार वहाँ के छःओं स्थान परम चैतन्यमय ध्रुव के एक अंग व भाग हो गए और इसलिए वे परिवर्तन तथा अभाव या प्रलय से मुक्त हैं।

३०७—रचना के पूर्व अविनाशी प्रांत के उस भाग में जो परम स्रोत से संलग्न था, ऊपर में समझाई गई रचना की क्रिया द्वारा परिवर्तन होकर फलतः जब निर्मल चैतन्य देश की रचना हुई, तब एक प्रकार से इस देश के नीचे एक शून्य स्थान पैदा हो गया। इस सु-महान् रिक्त स्थान को संतमत में महासुन्न का मैदान कहते हैं जो

निर्मल चैतन्य देश और ब्रह्मांड अथवा ब्रह्मांडी मन के देशों के बीच में सीमा का काम करता है। जैसा कि अब हम बयान करेंगे ये पिछले देश, रचना के पूर्व वाले मध्य देश या दोनों ध्रुवों के बीच वाले देश के निचले भाग से निर्मित हुए।

३०८—रचना की जिस क्रिया द्वारा निर्मल चैतन्य देश के मंडलों की रचना हुई है, उसका तनाव निरंतर इस रिक्त स्थान या महासुन्न के मैदान में पड़ते रहने से महासुन्न में भी निर्मल चैतन्य देश की सूक्ष्म छाप पड़ी जिसके कारण उसमें भी निर्मल चैतन्य देश की तरह सूक्ष्म उपविभाग बन गये। इनको निर्मल चैतन्य देश के उप-स्वर कहा जा सकता है। इनकी रचना निर्मल चैतन्य देश के निम्नतम स्थान भँवरगुफा के धनी सोहं पुरुष द्वारा हुई।

प्रकरण ९२

काल पुरुष और आद्या का निःसृत होना

३०९—रचना करने का जो प्रथम वेग उठा वह, मालूम होता है, निर्मल चैतन्य देश के मंडलों की रचना करके समाप्त हो गया। तभी तो रचना के कार्य में कुछ काल के लिए विश्राँति आ गई। विश्राँति की इस अवधि में रचना के पूर्व से चली आने वाली सर्वकालिक शक्ति ने और बढ़ी हुई तेज़ी के साथ अपना काम जारी रक्खा क्योंकि उस पर निर्मल चैतन्य देश के निचले हिस्सों का असर पड़ रहा था। निर्मल चैतन्य देश के ये निचले खण्ड यद्यपि इतने चैतन्य कर दिए गए थे कि वे परम स्रोत के संग रहने के योग्य बन जावें, पर फिर भी किसी क़दर उनका संबंध अब तक नीचे दरजे की चैतन्यता से था, कारण, महासुन्न के प्रदेशान्तर्गत प्रदेशों की रचना होने में उसका उपयोग होने पर भी यह नीचे दर्जे की चैतन्यता पूरी पूरी तौर से निकलने या झड़ने नहीं पाई । यह शेष त्रुटि बाद में जभी दूर हुई, जब रचना का कार्य फिर शुरू हुआ।

३१०—बीच में यह कहा जा सकता है कि छः उपविभागों के समूह में पाँचवाँ उपविभाग उत्पत्ति की क्रिया से सम्पन्न होता है।

उदाहरणार्थ सुरत की बैठक के स्थान से नीचे की ओर गिनती में पाँचवाँ चक्र जननेन्द्रिय में अवस्थित है जिससे प्रजनन अथवा विषयोपभोग क्रिया होती है। इसी प्रकार ब्रह्मांड का पाँचवाँ स्थान यानी ब्रह्मा का स्थान भी उत्पत्ति शक्ति से सम्पन्न है। रचना के दूसरे और तीसरे बड़े विभागों में यानी ब्रह्मांड और पिंड में पुरुष और स्त्री भेद के कार्य स्पष्ट नज़र आते हैं। मगर रचना के पहले बड़े विभाग यानी निर्मल चैतन्य देश में दोनों स्त्री पुरुष सम्बन्धी कार्य एक दूसरे में निमग्न या समाये हुए या परस्पर रत अवस्था में हैं और जिस प्रकार से इन्द्रिय सम्बन्धी कार्य यहाँ देखने को मिलता है, वहाँ उसका कोई अस्तित्व भी नहीं है।

३११—हाँ, निर्मल चैतन्य देश का पाँचवाँ मंडल यानी सत्तलोक ही ऐसा स्थान है जहाँ सुरत और शब्द की धारों का परस्पर सम्मिलन स्पष्ट रूप से हुआ। रचना पुनः आरम्भ होने पर दाम्पत्य धर्म के ये अंग पृथक पृथक होकर पृथक पृथक धारों के रूप में निकासे गए और साथ में नीचे दर्जे की चैतन्यता भी जो उल्लिखित विश्राँति की अवधि में ऊपर खिंच आई थी, निकाली गई।

३१२—प्रथम धार जो सत्तलोक के धनी सत्त पुरुष से निकली, शब्द की धार की तलछट या शाखा है। इसमें हर प्रकार के प्रतिरोध पर विजय प्राप्त करने की बड़ी उग्र शक्ति है। इसको काल पुरुष या ब्रह्म कहते हैं। इसमें केन्द्र बनाने की क्षमता न होने के कारण यह सार्वकालिक मध्य देश के निचले क्षेत्र में अकेला रचना न कर सका।

३१३—दूसरी धार जो सत्त पुरुष से निकली, निर्मल चैतन्य देश की सुरत की धार की तलछट या शाखा है। इसके भीतर केन्द्र बनाने की क्षमता थी तथा उससे संबंधित अनगिनत सुरतें या चैतन्य के बिंदु थे जिनमें इतनी चैतन्यता और निर्मलता न थी कि वे निर्मल चैतन्य देश में ठहर सकते।

३१४—काल पुरुष की धार का रंग, निर्मल चैतन्य देश के प्रकाश की तुलना में चकाचौंध लाने वाला नीलाभ और दूसरी धार का रंग जिसे कि आद्या कहते हैं, हरिताभ पीला था।

प्रकरण ९३

ब्रह्मांड के घटकावयवों की उत्पत्ति तथा छः उपविभाग

३१५—काल पुरुष और आद्या की धारों के सत्तलोक से निःसृत होने से नीचे दरजे का चैतन्य जो निर्मल चैतन्य देश के संग रहने योग्य न था, वहाँ से पूर्णतः दूर हो गया और साथ ही साथ ब्रह्मांड की रचना के लिए आवश्यक साधन भी प्राप्त हो गए।

३१६—यहां यह बतला देना चाहिए कि इन दोनों धारों की प्रवृत्ति बहिर्मुख यानी शुद्ध चैतन्य की क्रिया के विपरीत थी क्योंकि इनकी कार्रवाई उस हिस्से से संबंध रखती थी जो मूल निम्न ध्रुव के निज स्थान से संलग्न हुआ था।

३१७—काल पुरुष और आद्या के इस क्षेत्र को ब्रह्मांड कहते हैं। इसकी ऊपर की सीमा महा सुन्न की सृष्टि के निम्नतम भाग से जो कि अक्षर (अविनाशी) पुरुष का लोक है, लगी हुई है। चूंकि यह पुरुष महासुन्न की उप-चैतन्य सृष्टि के अधीन धनियों में से एक धनी है, इसलिए उनकी तरह यह भी क़रीब क़रीब अभाव से सुरक्षित है और इसीलिए इसको अक्षर पुरुष कहते हैं।

३१८—काल पुरुष और आद्या की धारों ने अक्षर पुरुष के स्थान के साथ मिल कर कुछ मिलौनी की सी हालत में प्रथम केन्द्र बनाया और वहाँ इनका नाम पुरुष और प्रकृति हुआ।

३१९—चूंकि अक्षर पुरुष का निगमन सीधे निर्मल चैतन्य देश से हुआ, इसलिए ब्रह्मांड के संबंध से अक्षर पुरुष का वही स्थान है जो कि पिंड और मन के संबंध से नर शरीर में सुरत का है। इसी कारण उसका लोक ब्रह्मांड का सच्चा आत्मपद (या आत्म ध्रुव) कहलाता है और चूंकि अक्षर पुरुष निम्न ध्रुव की महान आत्मा है, इसलिए वह आचार्य्य जो अक्षर पुरुष के साथ सायुज्य गति प्राप्त करने में सफलता प्राप्त कर लेता है, महात्मा (बड़ी आत्मा) कहलाता है।

३२०—काल और आद्या का अक्षर पुरुष के साथ मिलने के फलस्वरूप उनको अतीव चैतन्य शक्ति प्राप्त हुई और तुरंत ब्रह्मांड की

रचना का कार्य आरम्भ हो गया। निर्मल चैतन्य देश की रचना की रीतियों की भाँति पुरुष, प्रकृति और अक्षर पुरुष से धारें निकलीं और उनके मंडलों की रचना का कार्य पूर्ण हुआ। इस मंडल में ये तीन धारें प्रकट हैं और त्रिवेणी कहलाती है।

३२१—वह केन्द्र या संचय स्थान जो स्वतः अक्षर पुरुष के ठीक नीचे है मानसरोवर कहलाता है। आचार्य्य जिसकी गति यहाँ तक हो गई है, चैतन्यता के इस सरोवर में गोता लगा लेने से अपनी सम्पूर्ण सूक्ष्म मलीनता से जो कि काल पुरुष यानी ब्रह्म अथवा ब्रह्मांडी मन के देश में चढ़ाई करते समय गुज़रने से उसने प्राप्त कर ली हो, रहित हो जाता है।

३२२—वह स्थान जहाँ ये तीनों धारें पहले पहल एक केन्द्राभिमुखी हो एकत्रित हुईं, त्रिकुटी यानी तीन शिखरों या श्रृंगों का स्थान है। ये तीन शिखर मेरु, सुमेरु और कैलाश हैं। यहाँ आकर दो धारें जो कि सत्तलोक से आईं, ब्रह्म और माया के रूप में प्रकट हुईं।

३२३—यहाँ के मूल स्तर या तहें अपेक्षाकृत कम चैतन्य और भारी होने से रचना के सिलसिले में इधर से उधर स्थानान्तर किए जाने से छिन्न-भिन्न होकर उनसे अत्यंत बारीक घटक होकर कोशों के रजोधूम के समूह के समूह निकले जिन्हें परमाणु कहते हैं। साधारण परमाणुओं और विद्युत्कणों इत्यादि की अपेक्षा जिनसे हम परिचित हैं, ये परमाणु अनंत सूक्ष्मतर हैं और इसलिए दोनों को एक न करना चाहिए।

३२४—त्रिकुटी से ऊपर एक ही स्थान अर्थात् सुन्न या दसम् द्वार की चैतन्यता के आगे त्रिकुटी की चैतन्यता की कमी इतनी अधिक स्पष्ट देखने में आने लगी कि उसका दृश्यवान् परिणाम यह हुआ कि यहाँ का प्रकाश सबेरे के उगते हुए सूर्य के समान अति चमकदार लाल रंग का प्रकाश दिखाई पड़ता है।

३२५—ये तीन धारें चलती चलती त्रिकुटी से नीचे मिल गईं और माया व ब्रह्म से दो नई बड़ी धारें निकल कर नीचे की ओर चलीं।

इन दो धारों ने जहाँ तीसरी बार ठेका लिया, वह सहसदलकँवल यानी हज़ार पँखड़ियों वाला कँवल है। माया ब्रह्म का नाम यहाँ ज्योति नारायण (या निरंजन) पड़ा।

३२६—चूँकि वह तीन धारें जिनका ज़िक्र ऊपर हुआ तीन शिखरों के स्थान से निकली थीं, इसलिए सहसदलकँवल की ओर उतरने में जो रास्ता उन्होंने अपने लिए बनाया, उस पर भी उनके ठेकों की छाप पड़ी। इस मार्ग को बंकनाल (टेढ़ी सुरंग) कहते हैं। जहाँ से इन तीनों मिली हुई धारों ने नीचे उतरना शुरू किया, वहाँ से पहले रास्ता ऊपर चढ़ता है और तब नीचे उतरता है।

३२७—ये तीनों धारें तीनों गुणों के जिनके विषय में हम हाल में कहेंगे, अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यक्त रूप हैं। एक में चैतन्यता की प्रबलता है, दूसरी में उत्पन्न करने की शक्ति भरी है और तीसरी में संहार करने का गुण है।

३२८—त्रिकुटी पर इन तीनों धारों और माया व ब्रह्म की धारों की उल्लेखित परमाणुओं पर क्रिया होने से उनमें पाँच स्पष्ट और विभिन्न तहें या परतें बन गईं जो कि बहुत सूक्ष्म, यहाँ तक कि लगभग अगोचर थीं। ये ही द्रव्य की पाँच अत्यंत सूक्ष्म अवस्थाएँ हैं जिनकी चर्चा प्रकरण १२ में आई है।

३२९—ब्रह्म की धार द्वारा पृथक किए हुए द्रव्य की अवस्था आकाश तत्व और माया द्वारा पृथक किए हुए द्रव्य की अवस्था अग्नि तत्व है। पालन करने वाले, उत्पन्न करने वाले और संहारक गुणों द्वारा पृथक किए हुए द्रव्य की अवस्थाएँ क्रमशः वायु, जल और पृथ्वी तत्व हैं।

३३०—रचना के सिलसिले में ग़िलाफ हटने या झड़ने की जो कार्रवाई त्रिकुटी के स्थान पर हुई उससे जो द्रव्य (या परमाणु) नीचे गिरा उसमें इन पाँच अवस्थाओं की छाप नीचे भी उतर आई और सहसदल कँवल के स्थान पर आकर उसने अपने को पाँच अलग-अलग तत्वों के रूप में प्रकट किया। चूंकि ये तत्व विद्युत्कणों से भी

ज्यादा सूक्ष्मतर और शक्ति से अधिक संपन्न थे, इसलिए ये सहसदल कँवल से भिन्न भिन्न रंगों की पाँच पृथक पृथक प्रकाशों की धारों के रूप में निकले। आकाश तत्व या आकाश का रंग श्यामल नीलाभ, अग्नि तत्व का लाल, वायु तत्व का हरित, जल तत्व का सफ़ेद और पृथ्वी तत्व का पीला था।

३३१—ज्योंही पाँच तत्व सहसदल कँवल से निकले कि उन पर फिर क्रिया होने लगी। तीन गुण और ज्योति निरंजन इन पाँचों का पाँच तत्वों पर अलग अलग असर पड़ने से पाँच तत्वों के पच्चीस उप-भेद प्रकट हुए, प्रत्येक का गुण निराला निराला अपना अपना अलग था। ये पच्चीस उप-भेद पच्चीस प्रकृतियों (स्वभावों) के नाम से प्रसिद्ध हैं।

३३२—ऊपर वर्णन की हुई रीति से तत्वों और प्रकृतियों के अपने अपने समूह में बँट जाने के साथ साथ सहसदलकँवल के मंडल की रचना का कार्य्य भी जारी था। इस रचना के कार्य्य में बड़ी बड़ी आठ धारें लगी थीं, दो ज्योति निरंजन की और छः पुरुष और स्त्री भेद से तीनों गुणों की। इन्हीं आठ धारों की दृष्टि से सहसदलकँवल को अष्ट दल कँवल (आठ पंखड़ियों वाला कँवल) भी कहते हैं।

३३३—इन आठ धारों में से प्रत्येक ने एक प्रकार से पहले पाँच पाँच पत्र पाँच पाँच तत्वों के अपनी ओर आकर्षित किए और अपने अंग में मिलाए या धारण किए। तदनन्तर इस प्रकार पत्र तैयार होकर प्रत्येक पत्र द्वारा पच्चीस प्रकृतियों के उप-पत्र अपनी ओर खिंच आकर संपूर्ण पत्रावली तैयार हो गई। इस प्रकार आठ खास धारों के चारों ओर पँखड़ियों के शाखा प्रतिशाखा होते हुए एक हज़ार पंखड़ियाँ बनी और इसी दृष्टि से इस मंडल को एक हजार पंखड़ियों वाला कँवल कहते हैं।

३३४—इस कँवल की रचना के बाद ज्योति और निरंजन की धारें यहाँ अन्तिम रूप से अवस्थित हो गईं। वे उससे अधिक नीचे न उतर सकीं क्योंकि सहसदल कँवल के नीचे ऋणात्मक स्तर होने से वह उनकी चैतन्य शक्ति के अनुपयुक्त कार्य क्षेत्र था।

३३५—तीन गुण जो यहाँ तक सहसदलकँवल के मंडल के भीतर मानो छिपे रहे, अब नारायण के तीन पुत्रों के रूप में प्रकट हो निकल पड़े और उनमें से प्रत्येक अपने अपने लोक का जो एक दूसरे के नीचे स्थित है, धनी या देवता हुआ। इन देवताओं के नाम विष्णु, ब्रह्मा और शिव हैं और इसी क्रम में उनके लोक भी स्थित हैं।

३३६—इन तीन लोकों के गढ़ जाने पर ब्रह्मांड के छः ओं उपविभागों की रचना समाप्त हुई। ये तीनों लोक जैसा कि प्रकरण ९१ में कहा गया है, रचना से पूर्व मध्य भाग या निर्पेक्ष क्षेत्र के निचले हिस्से में रचे गए हैं। यहाँ तक हम घटक द्रव्यों तथा ब्रह्मांड के छः उपविभागों की रचना के विषय में कहते आ रहे हैं। अब हम आगे इन प्रदेशों के अधिवासियों और वहाँ की चैतन्यता के विषय में कुछ कहेंगे।

प्रकरण ९४

ब्रह्मांड की चैतन्यता और वहाँ के अधिवासी

३३७—सुन्न यानी ब्रह्मांड की चोटी के स्थान से लेकर उसके नीचे के स्थान यानी त्रिकुटी तक जो चैतन्यता है वह बहुत उच्च कोटि की है—यहाँ तक कि वह और ऊपर के मंडलों की चैतन्यता की अपेक्षा बहुत हीन कोटि की नहीं है मगर त्रिकुटी से नीचे सूक्ष्म द्रव्य यानी परमाणुओं की मिलौनी के कारण चैतन्यता की वह निर्मलता व शुद्धता जाती रही जो उसमें विशेष कर दृष्टव्य थी और अब उसे उस मंडल से नीचे 'प्राण' की संज्ञा दी गई। इस 'प्राण' को 'वायु तत्व' (द्रव्य की एक अवस्था) नहीं समझना चाहिए।

३३८—तीन धारों के जो कि मूल में सुन्न मंडल से निकली थीं (प्रकरण ९३), बंकनाल के निम्न सिरे से निकलने पर वे 'इड़ा', 'पिंगला' और 'सुषुम्णा' की तीन सूक्ष्म धारों के रूप में एक दूसरी से अलग हो गई। 'सुषुम्णा' मध्य में, 'इड़ा' बाई ओर और 'पिंगला' दाहिनी ओर अवस्थित है। यह तीन बड़ी बड़ी धारें प्रणालियाँ या धमनियां हैं जिनके द्वारा ब्रह्मांड के निम्न भाग में उल्लिखित चैतन्यता पहुँचाई जाती है।

३३९—निर्मल चैतन्य देश से कुछ कुछ मिलते जुलते ज्योतिर्बिम्ब इन तीनों धारों से जो सुन्न से निकलीं, पैदा हुए थे। इन तीन धारों के तीन विभिन्न उद्गम स्थान होने से बिम्बों या गोलों की एक तीसरी क़िस्म भी पैदा हुई। जैसा कि प्रकरण ८९ में कहा गया है, गोलों की दो क़िस्में सूरज और चाँद की तरह वाली हैं और तीसरी क़िस्म में 'तारे' हैं मगर इन 'तारों' को उन तारों से एक नहीं करना चाहिए जिन्हें कि हम देखा करते हैं और जो स्वयं सूरज और चाँद हैं। तीसरी क़िस्म वाले गोले ग्रहों की तरह के हैं।

प्रकरण ९५

चैतन्य देशों के अधिवासी

३४०—चूंकि केवल शुद्ध चैतन्य देश की रचना, वहाँ की अधिवासी सुरतों और धनियों के अतिरिक्त, स्वयं ज्ञानवंत थी, इसलिए उस रचना की सामग्री से जो कोश या काया बनी उसको संपूर्ण चैतन्य जगत से ज्ञान संबंध स्थापित करने के लिए किसी विशेष प्रबंध की आवश्यकता न हुई। स्वतः कोश ही द्वारा, जिस रूप में कि वे थे उसी से, यह काम निकलता था। उनके भीतर निवास करने वाली सुरतों को अपने चारों ओर की रचना का पूर्ण ज्ञान और अनुभव प्राप्त था।

३४१—ब्रह्मांड के सबसे ऊपर के स्थान यानी सुन्न की अधिवासी सुरतों का भी कुछ कुछ ऐसा ही हाल है। इसीलिए उनको भी 'हंस' कहते हैं। स्त्री पुरुष का भेद उनमें किंचित प्रकट है, किंतु दाम्पत्य धर्म यहाँ जैसा वहाँ भी नहीं है। वर्ग के उन व्यक्तियों में जिनमें स्त्री अंग की विशेषता है 'हंसनियाँ' और शेष अधिवासियों को 'हंस' कहते हैं।

प्रकरण ९६

तन्मात्रा, द्रव्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म कण

३४२—द्रव्य या परमाणु जिनका निष्क्रमण त्रिकुटी से हुआ (देखिये प्रकरण ९३) ज्ञानवंत नहीं है। यद्यपि वे अति सूक्ष्म, शुद्ध

और अधिक शक्ति संपन्न हैं। इसलिए ऐसे उपादान द्रव्य से बने हुए सरल आवरण बाहरी रचना का ज्ञान प्राप्त कराने के लिए पर्याप्त नहीं थे।

३४३—इसलिए त्रिकुटी के स्थान पर पांच ज्ञान इन्द्रियाँ, अत्यंत सूक्ष्म रूप में रची गई जिससे कि उनके द्वारा उस स्थान के अधिवासियों को तथा उसके नीचे की रचना के अधिवासियों को अपने चारों ओर की रचना से परिचित होने के आवश्यक साधन प्राप्त हो सकें तथा ज्ञान भी प्राप्त कर सकें।

३४४—सूक्ष्म से सूक्ष्म और महीन से महीन कणों का जिनको 'तन्मात्रा' कहते हैं, प्रत्येक सुरत से संबंध लगा दिया गया और इस स्थान पर जो पांच प्रकार के विभिन्न द्रव्य पैदा हो गए थे, उनसे खबर मिलने के लिये ये 'तन्मात्रा' उपयुक्त माध्यम बने।

प्रकरण ९७

तत्वों की तन्मात्रा, रूपों की बनावट, ज्ञानेन्द्रियों के कार्य

३४५—'आकाश तत्व' की 'तन्मात्रा' श्रवण इन्द्रिय में और बाक़ी चार 'तत्वों' यानी 'अग्नि', 'वायु' 'जल' और 'पृथ्वी' तत्वों की 'तन्मात्राएँ' क्रमशः दृष्टि, घ्राण, स्वाद और स्पर्श इन्द्रियों में अवस्थित की गई।

३४६—चूंकि आकाश तत्व, द्रव्य की अत्यंत सूक्ष्म अवस्था है और शक्ति से बहुत संपन्न है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि शब्द का प्रत्यक्ष बोध प्राप्त कर सकना अथवा ज्ञान शक्ति का प्रत्यक्ष बोध प्राप्त कर सकना दोनों कार्य एक या तुल्यार्थक हैं और ज्योंही किसी शक्ति का विश्लेषण होकर उसकी गति आकाशीय धरातल पर हुई कि उसका शब्द रूप में ज्ञान होने लगता है।

३४७—यहाँ हम किसी भी बल से उत्पन्न क्रियाशील धारा की ओर ही देखते हैं, उसके कार्य से अंत में क्या परिणाम होता है उसका विचार हम नहीं करते। जब धारा द्वारा केन्द्र या भंडार बनाने की स्थिति आती है, तब उसका प्रभाव उन परमाणुओं में जो अभी बिना समुदाय बने हुए पड़े थे, समुदाय के रूप में प्रकट होकर एक अवस्था उत्पन्न होती है जिसे 'रूप' कहते हैं।

३४८—आकाश के घटकावयव उक्त प्रकार से समूह नहीं बना सकते और इसलिए आकाश को 'अरूप', और 'रूप' बनाने में असमर्थ समझा जाता है। किन्तु इस विचार धारणा में कुछ जोड़ने की आवश्यकता है।

३४९—हम प्रकरण ९३ में कह चुके हैं कि त्रिकुटी की रचना के समय वहाँ जो परमाणु पैदा हुए थे उनका एक विभिन्न स्तर आकाश के रूप में उत्पन्न हुआ। तदनुकूल त्रिकुटी के नीचे आकाश का एक अलग निजी मंडल है। इस मंडल को दृष्टि में रखते हुए आकाश को सर्वांग में अरूप नहीं कहा जा सकता। अतएव रचना की व्यवस्था में आकाश, उच्चतर शक्तियों के माध्यम का कार्य करता है।

३५०—आकाश के बाद बाकी चार तत्वों में से 'अग्नि' द्रव्य की सबसे अधिक सूक्ष्म अवस्था है। 'अग्नि' तत्व के परमाणुओं द्वारा, जब उन पर, 'आकाश' तत्व से सदैव संबंधित और स्वंय उस पर कोई क्रिया न करने वाली आवश्यक शक्ति आकाश में से होकर कार्य करती है तब रूप बनता है जो आकाश से गुज़रती हुई प्रकाश धाराओं द्वारा दृष्टीन्द्रिय तक पहुँचता और रूप करके पहचाना जाता है। उपर्युक्त रीति से रूप का आँख तक पहुँचना कुछ कुछ पानी की भाप का वायु द्वारा वहन क्रिया की तरह है।

३५१—द्रव्य की आकाशीय अवस्था के अतिरिक्त जितनी अवस्थाएँ हैं उन सबसे विलग होने पर जो रूप प्रकाश का मिलता है, वही रचना के तीसरे बड़े दरजे की विशुद्ध विद्युत या बिजली है जिसका ज्ञान दृष्टि इन्द्रिय द्वारा नहीं हो सकता। अलबत्ता सुरत चैतन्य की शक्ति जागने और बढ़ने पर उसकी द्युति का अनुभव होता है।

३५२—इस जगत में जो कुछ प्रकाश हमको दिखलाई देता है चाहे वह तारों सूरज बिजली वग़ैरा का हो सब का सब, आकाश के घटकावयव विद्युत्कणों के अतिरिक्त अन्य परमाणुओं से खूब भरपूर होता है। इन परमाणुओं की मिलौनी के कारण ही विशेष विशेष प्रकार का विविध प्रकाश दिखलाई देता है। अग्नि या

उष्णता की अवस्था में परमाणु विघटनशील अवस्था में होते हैं (प्रकरण ११ देखिए)।

३५३—इसीलिए शब्द का ज्ञान, दृष्टि के ज्ञान की अपेक्षा सूक्ष्मतर है। सब प्रकार के शब्दों में रूप सदैव गुप्त रीति से संबंधित है।

३५४—जब द्रव्य वायु तत्व की अवस्था में परिणत होता है, तब ही घ्राणेन्द्रिय द्वारा लक्षित हो सकता है।

प्रकरण ९८

कोई कोई वायु और पदार्थ में गंध और स्वाद न होने का कारण

३५५—यहाँ हम थोड़ा विषयांतर करते हुए बतलाना चाहेंगे कि क्यों कोई कोई वायु और पदार्थ में क्रमशः गंध और स्वाद नहीं होता।

३५६—ऊपर हम यह कह चुके हैं कि द्रव्य की पाँच अवस्थाओं में से प्रत्येक का अत्यंत सूक्ष्म कण यानी तन्मात्रा पाँचों ज्ञान इन्द्रियों में से प्रत्येक के केन्द्र पर मौजूद है। ये अत्यंत सूक्ष्म कण उसी धरातल पर होते हैं जिनमें कि उनके 'तत्व' होते हैं। यही कारण है कि स्वयं कोई 'तत्व' उस इन्द्रिय पर जिसमें कि उसकी 'तन्मात्रा' मौजूद है, कोई असर नहीं डालता जब तक कि उस 'तत्व' पर किसी बाहरी शक्ति का असर अथवा उसमें कोई प्रकार की मिलौनी न हो। इसलिए अकेली वायु का या किसी अन्य नित्यता-प्राप्त-वायु[१] का जो अपनी बनावट की सी सहज सूक्ष्म अवस्था में प्राप्त हो, सूंघने की इन्द्रिय पर कोई प्रभाव नहीं पहुँच सकता है।

३५७—हम प्रकरण ९७ में कह चुके हैं कि पाँच तत्वों की भावना, परमाणुओं की प्रत्येक तत्व में विशिष्ट विशिष्ट सजावट से है। अतः इस विषय का विचार करते समय वायु, जल, पृथ्वी आदि तत्वों के जो स्थूल रूप यहाँ इस पृथ्वी पर पाये जाते हैं, इनसे उपर्युक्त तत्वों को एक नहीं करना चाहिए।

१. जैसे—अमृत वायु या ओषजन (आक्सीजन गैस), नतरंजन (नाइट्रोजन गैस), उदजन (हाइड्रोजन गैस)।

३५८—शेष ज्ञान इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी यही उपर्युक्त वर्णन यथायोग्य परिवर्तन के साथ लागू है।

३५९—इस बात को और स्पष्ट करने के लिए हम फिर भी एक और दृष्टांत देंगे। जब तक अग्नि तत्व की अवस्था इस हद तक सूक्ष्मता को नहीं पहुँच जाती कि जिसमें उसके परमाणु आकाशीय धरातल पर गति उत्पन्न करने वाली क्रियाशील शक्ति से संबंध स्थापित कर सकें, तब तक वह स्थूल शरीर पर अपने कार्य द्वारा केवल स्पर्श इन्द्रिय को प्रेरित कर ताप का भान कराती परन्तु प्रकाश के रूप में दृष्टिगोचर नहीं होती। तथापि ज्योंही अग्नि तत्व को ऊपर बतलाई हुई सूक्ष्म अवस्था प्राप्त हुई कि वह आँख के अंदर अपनी 'तन्मात्रा' को प्रेरित कर प्रकाश का भान कराती है।

३६०—संक्षेप में, जब द्रव्य की पाँचों अवस्थाएँ इस क़दर उत्तेजित हो जाती हैं कि वह अपने अपने सूक्ष्म धरातलों पर असर पहुंचा सकें तब जीव जो कि उस उत्तेजना के क्षेत्र में मौजूद हो, उससे संबंध रखने वाली इन्द्रिय पर अंकित संस्कार द्वारा उसे ग्रहण करता है और तब उसे शब्द, प्रकाश, घ्राण, स्वाद या स्पर्श का भान प्राप्त होता है।

३६१—ऐसा अक्सर होता है कि किसी शक्ति से पैदा होकर एक ही उत्तेजना से एक से अधिक इन्द्रियों पर असर पड़े। ऐसी सूरत में एक से अधिक ज्ञान इन्द्रियों को अपने अपने ज्ञान का अनुभव होता है। मिसाल के तौर पर बारूद के धमाके से श्रवण और दृष्टि की दोनों इन्द्रियों पर असर पड़ता है और कभी कभी घ्राण की इन्द्रिय पर भी।

३६२—ज़ाहिर में ऐसा लगता है कि श्रवण शक्ति दृष्टि की शक्ति से अधिक स्थूलतर है और इसलिए यह स्पष्ट बतला देना कि यथार्थ वस्तु ठीक इसके विपरीत है, लाभदायक होगा।

प्रकरण ९९

श्रवण-शक्ति दृष्टि की शक्ति की अपेक्षा सूक्ष्मतर है

३६३—शब्दों का जैसा कुछ ज्ञान हमको यहाँ प्राप्त होता है वह सब शक्ति के कार्य द्वारा उत्पन्न होता है जब कि उस कार्य का फल

हमारे श्रवण यंत्र तक पहुँचता है। यह यंत्र जिस रूप में कि हमारे शरीर में पाया जाता है, ठोस, द्रव और कुछ अंश में वायवीय द्रव्य से बना हुआ है। इसलिए जो शक्ति उन ठोस, द्रव्य या वायवीय सतहों तक असर पहुंचा सके, वही केवल सुनने के स्थूल यंत्र को उत्तेजित कर सकती है। मगर यह वर्णन उस अवस्था का है जब कि शक्ति का कार्य श्रवण इन्द्रिय की केवल स्थूलतर बनावट तक ही सीमित रहता है। परन्तु सर्वशक्तियों के, इन रूपों के सिवा जिनका असर स्थूलतर सतहों पर मालूम होता है, और सूक्ष्मतर रूप हैं और यह सूक्ष्म रूप ही शब्द के रूप में सुनाई देता है जैसा कि अभी हम समझावेंगे।

३६४—प्रकरण ८ के अवलोकन से विदित होगा कि जन्म से ही सतत अभ्यास द्वारा स्थूल शरीर संबंधी विविध कार्य विकास को प्राप्त होते हैं और जो कुछ भी हमें मानसिक अपना ज्ञान प्राप्त है, वह भी पहले स्थूल शरीर द्वारा संस्कारों के अंतर में पड़ने से प्राप्त हुआ है। इसलिये इन संस्कारों को उनके सूक्ष्म माध्यमों तक पहुँचने के लिए वे माध्यम सम्पूर्ण रूप से स्थूल शरीर पर अवलम्बित हैं। तदनुसार जभी कोई वस्तु वाह्य इन्द्रिय-यंत्रों को उत्तेजित करती है, तभी अन्दरूनी सूक्ष्म माध्यम उत्तेजित होते हैं और केवल उसी अवस्था में तत्संबंधी इन्द्रियों को उसका प्रत्यक्ष बोध होता है।

३६५—अब श्रवण सम्बंध में देखा जाता है कि जब तक कोई शक्ति श्रवण इन्द्रिय के स्थूल द्रव्य पर असर पहुँचाने की अवस्था में न आ जावे, तब तक सुनने की इन्द्रिय पर कोई असर नहीं पहुँचेगा क्योंकि जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सुनने की शक्ति हमारे शरीर में क्रियाशील तभी होती है जब उसका संबंध भौतिक यंत्र से होता है। इस संबंध की एक विलोम अवस्था होती है जब कि शक्ति (स्वयं) स्थूल यंत्र पर पहुँचती है अर्थात् उस यंत्र की स्थूल या भौतिक सतह से वह शक्ति स्वयं अपने सूक्ष्म रूप से अंतर की तन्मात्रा से सम्बन्ध स्थापित करती है। यह सूक्ष्म रूप क्या है, उसे हम नीचे समझाते हैं।

३६६—ऊपर हम कह चुके हैं कि जो शक्ति भौतिक श्रवण यंत्र को उत्तेजित करती है, वही केवल शब्द के रूप में ज्ञात हो सकती

है। चूँकि यह यंत्र ठोस द्रव और वायवीय अवस्थाओं के द्रव्य का बना हुआ है, इसलिए स्पष्ट है कि जो शक्ति इन पर काम करती है वह वास्तव में गुरुत्वाकर्षण शक्ति पर काम करती है क्योंकि द्रव्य की ये सब अवस्थाएँ अपनी मौजूदा हालत में खास कर गुरुत्वाकर्षण शक्ति के प्रभाव से ही क़ायम हैं। जब कभी द्रव्य की इन अवस्थाओं में से किसी एक पर कोई क्रिया होती है, तब गुरुत्वाकर्षण प्रतिक्रिया करता है और यह प्रतिक्रिया सदा अपनी मूल क्रिया के साथ प्रचलित होती है। गुरुत्वाकर्षण की यह प्रतिक्रिया ही वह सूक्ष्म रूप है जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया है।

३६७—इस विषय पर और मनन करने से मालूम होगा कि पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण, पृथ्वी पर सूर्य के आकर्षण का नतीजा है अर्थात् गुरुत्वाकर्षण पृथ्वी को सूर्य से प्राप्त है। यह आकर्षण चुम्बकीय-आकर्षण से कुछ कुछ मिलता जुलता है और वह बीच में स्थित आकाशीय माध्यम द्वारा होता है। इस प्रकार हमें पता लगता है कि जो शक्ति आकाशीय तल को पार्थवीय-गुरुत्वाकर्षण के रूप में उद्वेजित करती रहती है, वही हमेशा शब्द के प्रत्यक्ष बोध होने में सूक्ष्म साधक रूप में भाग लेती है। ऊपर के विवरणों से हम इस आम नतीजे पर पहुँचते हैं कि जब शक्तियों की क्रियाएँ भिन्न भिन्न इन्द्रियों के विशिष्ट भौतिक तलों को उद्वेजित करती हैं, तभी ज्ञान इन्द्रियों पर उनका प्रभाव पड़ता है, अन्यथा उन का हमको कोई ज्ञान नहीं होता।

३६८—यदि राधास्वामी मत में बतलाई गई अंतर्मुख अभ्यास की विधि द्वारा सुरत को उन घाटों के बजाय जहाँ वह साधारण अवस्थाओं में कारकुन होती है ऊपर के घाटों पर जाग्रत कर लिया जावे तो विभिन्न ज्ञान इन्द्रियों की तन्मात्राएँ संस्कार ग्रहण करने के लिए स्थूल शरीर की मोहताज न रहेंगी और विभिन्न श्रेणियों की सूक्ष्म क्रियाएँ जो सदा उपस्थित रहती हैं, सब उनके ज्ञान की सीमा के भीतर आने लगेंगी। एवं विधि से ही मनुष्य उच्चतर घाटों की असाधारण अवस्थाओं में उतने अल्प काल के लिए सूक्ष्म शक्तियों से संपन्न हो जाते हैं।

३६९—यह दरसाने के लिए कि शब्द इन्द्रिय संबंधी हमारी धारणा वैसी स्थूल नहीं है जैसा कि हम उसे मामूली तौर पर समझते हैं, अब हम काफी कह चुके।

प्रकरण १००

इन्द्रियों का क्रमिक विकास

३७०—ऊपर में विभिन्न इन्द्रियों की बनावट और कार्यों का विचार करते समय हमारा दृष्टिकोण भौतिक धरातल का रहा है जिससे कि ऐसे दृष्टांत दिए जा सकें जो हमारे साधारण अनुभव के क्षेत्र के अंदर हों। ब्रह्मांड के अधिवासियों की सूक्ष्मतर इन्द्रियों के विषय में पुनः ये ही बातें यथायोग्य परिवर्तन के साथ लागू हैं।

३७१—त्रिकुटी के देश में इन्द्रियाँ इतनी सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष हैं कि वहाँ के वासियों की प्रकाशवान काया में वे स्पष्ट दिखाई भी नहीं पड़तीं। सहसदल कँवल में वे और स्पष्ट मालूम पड़ती हैं और ब्रह्मांड के निम्नतर लोकों में वे और भी सुस्पष्ट हो जाती हैं।

प्रकरण १०१

ब्रह्मांड के नीचे का मैदान, ब्रह्मांड और पिंड का कक्षा में परिक्रमा करना

३७२—विष्णु, ब्रह्मा और शिव के लोकों के नीचे कुछ कुछ महासुन्न की तरह एक विशाल मैदान है। यद्यपि यह उत्तरोक्त से बहुत छोटा है, पर इसमें भी कुछ क्षुद्र सृष्टि है। रचना के दूसरे और तीसरे बड़े दरजों के बीच यह मैदान सीमा का काम देता है।

३७३—इस सीमा-क्षेत्र के सबसे नीचे के हिस्से में रचना के तीसरे बड़े दरजे का चोटी का स्थान है जिसमें ऊपर की ओर ब्रह्मांड में प्रवेश पाने के लिए एक छिद्र है। इस छिद्र को तीसरा 'तिल' (तीसरा नेत्र अथवा सूक्ष्म नेत्र या दिव्य चक्षु) कहते हैं और इसके द्वारा ब्रह्मांड के निचले हिस्से की झाँकी मिल सकती है। इसी द्वार में होकर सुरत रचना के तीसरे से दूसरे बड़े दरजे में प्रवेश पाती है।

३७४—यह स्थान जिसका कि ज़िक्र ऊपर हुआ, ब्रह्मांड के सबसे ऊपर के देश के साथ यानी सुन्न से साम्य रखता है। रचना के तीसरे बड़े दरजे का यह चंद्र स्थान या मंडल है। यही स्थान नीचे के सब लोकों को चैतन्यता प्रदान करने का उद्गम है।

३७५—यह (चंद्र) स्थान सूर्य से ऊपर है। ये दोनों, ब्रह्मांड के सबसे नीचे वाले हिस्से के चारों ओर चक्कर लगा रहे हैं। ब्रह्मांड भी, कुल का कुल, इसी तरह निर्मल चैतन्य देश की कक्षीय परिक्रमा कर रहा है। परन्तु यह निर्मल चैतन्य देश अथवा उसका कोई भी भाग इस तरह की गति के आधीन नहीं है।

३७६—जैसा हम आगे चल कर बतलावेंगे, रचना के केवल यही दो बड़े दरजे हैं जो इस कक्षीय गति के अधीन हैं और यही केवल सामयिक विलीनता को भी प्राप्त होते हैं। शुद्ध चैतन्य देश में किसी प्रकार का परिवर्तन या अभाव नहीं है और इसीलिए वह देश सदा अमर या अविनाशी है।

३७७—जो कुछ ऊपर वर्णन किया गया है वह केवल उस एक ब्रह्मांड और तत्संबंधीय पिंड के संबंध में है जिसमें कि हमारा सूर्य मंडल अवस्थित है। वरना कुल ब्रह्मांड देश में इस नमूने की अगणित रचना है अर्थात् ऐसे ऐसे अनेक ब्रह्मांड व पिंड हैं। शुद्ध चैतन्य देश से जो चैतन्य धार व काल और माया की धारें अत्यंत विस्तृत महासुन्न के मैदान में उतरीं, उनसे ही समुद्र से बूंदों के समान ये अगणित ब्रह्मांडी मन अथवा ब्रह्म अपनी अपनी अर्द्धांगिनियों, आद्याओं, के साथ तथा ब्रह्मांड के अगणित चैतन्य केन्द्रों सहित बाहर की ओर झाड़े गये।

३७८—इसी प्रकार अगणित सौर्य जगत जो रचना के इस तीसरे बड़े दरजे के घाट पर पाए जाते हैं, एक एक ब्रह्मांड से निकले हैं।

प्रकरण १०२

गुणों के प्रकृतियों के साथ परस्पर व आपस में नाना प्रकार से मिलने से चौरासी धारें बनीं

३७९—नीचे उतार के समय तीनों गुण, पच्चीस प्रकृतियों के साथ जिनका उल्लेख प्रकरण ९३ में हुआ है, संबंधित हुए तथा आपस

में एक दूसरे से मिले। इस प्रकार चौरासी मिश्रित धारें यानी पछत्तर द्रव्य की और नौ गुणों की पैदा हुई और रचना के तीसरे बड़े दरजे में उतरीं। यही चौरासी सूक्ष्म धारें चौरासी लक्ष के नाम से प्रसिद्ध हैं। लक्ष के अर्थ हैं सूक्ष्म।

३८०—रचना के तीसरे बड़े दरजे की कुल चेतन और जड़ सृष्टि के घटकावयव और उनके कार्य इन्हीं चौरासी धारों से उत्पन्न हुए हैं। जिस रूप में कि हम तत्वों को जानते हैं, उस दृष्टि से ये द्रव्य की पछत्तर धाराएँ प्रत्येक, भिन्न भिन्न गुणों से युक्त हैं। यह गुणों की भिन्नता उन पर विविध ताक़तों द्वारा उनकी प्रकृति के अनुरूप क्रिया किए जाने के और जिन जिन तत्वों से वे बनी हुई हैं, उनके अनुरूप गुणों के कारण हैं।

प्रकरण १०३

पिंड देश में चार खान की रचना

३८१—प्रकरण ९७ में हम कह चुके हैं कि आकाश तत्व का मुख्य कार्य, शक्ति के कार्य को वहन करना है और कि उसके अन्य कार्यों की यहाँ खबर मुशकिल से पड़ती है। शेष चार तत्व सुरत की देही या काठी बनाने के काम आते हैं, चाहे वह सूक्ष्म हो या हमारी देह की तरह स्थूल हो।

३८२—पाँच तत्वों के मंडलों के नीचे सजीव और निर्जीव जितनी रचना पिंड देश में है, वह चार श्रेणियों में विभक्त है। उनके नाम जेरज, अंडज, स्वेदज और उद्भिज हैं। पहली तीन श्रेणियाँ एकान्ततः सजीव हैं। मगर चौथी श्रेणी में खनिज पदार्थ और अन्य चीज़े भी शामिल हैं जो ज़मीन से निकलतीं हैं। पहली श्रेणी के जीवों की देहियों में अग्नि तत्व की प्रधानता है। बाक़ी तीनों में क्रमशः वायु, जल और पृथ्वी की। उपर्युक्त चार नामों का शाब्दिक अर्थ यह है:—(१) जो झिल्ली से पैदा होता है, (२) जो अंडे से निकलता है, (३) जो पानी और पसीने से पैदा होता है और (४) जो ज़मीन से निकलता है।

३८३—ऊँची श्रेणी के जीवों में पाई जाने वाली जो आत्म-विषयक-ज्ञान-शक्ति है, उसे छोड़ शरीर में जितनी रचनात्मक क्रिया होती है वह खास तौर से पिंड देश के तारक या सूर्य मंडल द्वारा संपादित होती है अर्थात् वह बृहत्-विश्व के तीसरे बड़े विभाग में पाए जाने वाले तारक या सूर्य मंडल का कार्य है। उनका स्थूल उपादान हमारे वात तंतु के केन्द्रों के स्थूल उपादान से मिलता जुलता है। वात नाड़ी की तरह वे संपूर्ण सृष्टि को चैतन्य शक्ति प्रदान करती हैं और वे अपने अपने आश्रित जगत के आधार या अवलंब हैं।

३८४—इन ज्योतिष्पिंडों के अधिष्ठातृ देवता उनके स्थूल उपादान में निवास नहीं करते, बल्कि वे इन ज्योतिष्पिंडों से संबंधित उच्चतर सूक्ष्म प्रदेशों या घाटों में जो उनके ठहरने के योग्य हैं, निवास करते हैं। अपने अधीन ज्योतिष्पिंडों या बिंबों की व्यवस्था उनके द्वारा उसी प्रकार होती है जिस प्रकार कि वात के केन्द्रों की व्यवस्था उनसे संबंध रखने वाले विशिष्ट अगोचर चैतन्य घाटों के द्वारा होती है। रचना के तीसरे बड़े दरजे के सबसे नीचे के लोकों में इन बिंबों में चैतन्यता की इस क़दर कमी हो गई है कि उनके कार्य का प्रभाव करीब करीब वनस्पति जगत में पाई जाने वाली रचनात्मक क्रिया की तरह हो गया है।

प्रकरण १०४

पिंड के छः उपविभाग और उनके धनी

३८५—ऊपर वर्णन की हुई चौरासी धारों के अतिरिक्त ज्योति और निरंजन से भी दो धारें निकल कर रचना के तीसरे बड़े दरजे यानी पिंड में उतरीं जिनके सूक्ष्मतर रूप इस दरजे के सबसे ऊपर वाले स्थान के धनी से संबंधित हैं और प्रत्येक के अपेक्षाकृत स्थूलतर शेष दो रूप स्वयं नीचे के दो स्थानों के धनी हैं। इसी प्रकार विष्णु, ब्रह्मा और शिव से निसृत धारें क्रमशः पिंड के सबसे नीचे के तीन स्थानों पर एकत्रित या एक-केन्द्राभिमुखी हुई हैं।

३८६—लघु-विश्व की मानवीय सत्ता में ज्योति और नारायण की किरनें क्रमशः व्यक्तिगत इच्छा और मन के रूप में अपने को

प्रकट करती हैं। मानुषी सत्ता में इन दोनों अंशों के प्रकट रूप जो कि वहाँ मुख्य धारों के किरण रूप में हैं, उस चक्र पर पाए जाते हैं जो हृदय पर अवस्थित है। यही स्थान इच्छा और मन के व्यापारों का क्रीड़ा स्थल है। इन दोनों के सूक्ष्मतर रूप कंठ चक्र और सुरत की बैठक के स्थान में हैं (देखिए प्रकरण १८)। किंतु उनके कार्य अप्रकट हैं जो सुरत की गुप्त शक्तियों के जागने पर ही दृष्टिगोचर होते हैं। इसी तरह पिंड के नीचें के तीन चक्र क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा और शिव की शक्तियों से संचारित हैं और वे चक्र क्रमशः पालन पोषण, संतानोत्पत्ति और शरीर से मल विसर्जन का काम करते हैं।

३८७—इन छः चक्रों से सम्बन्धित पिंड देश के क्रमशः ये छः बिंब हैं—सुरत या चन्द्र स्थान, सूर्य लोक, पृथ्वी लोक, बृहस्पति लोक, शनिलोक और वरुण लोक। इनके अतिरिक्त ग्रह नाम से कहे जाने वाले जो अन्य ग्रह हैं वे वास्तव में लघु बिंब हैं जो अपने निकटतम ग्रहों की सहायता करते हैं। जिस प्रकार प्रधान स्नायु ग्रंथियों के निकट उप-स्नायु-ग्रन्थियाँ कार्य करती हैं, उसी प्रकार क्षुद्र ग्रहों का कार्य है।

३८८—मनुष्य शरीर में जिस तरह नीचे के तीन चक्रों का समूह एक तौर पर ऊपर के तीन चक्रों के समूह से न्यारा है, उसी तरह पिंड देश के नीचे के तीन बिंब ऊपर के तीन बिंबों के समूह से बहुत अंश में स्वतन्त्र हैं। विष्णु का अंश या किरण बृहस्पति ग्रह अपने अधिष्ठातृ देवता की भाँति सूर्य से थोड़ा बहुत स्वतंत्र है। चैतन्य की धार जो चन्द्र स्थान से सबसे नीचे के स्थान तक उतर कर आती है, जोड़ने वाली श्रृंखला का काम करती है। चूंकि पिंड देश का चन्द्र बिंब और मनुष्य की सुरत या चंद्रमंडल एक ही धरातल या घाट पर हैं, इसलिए यही फलित ज्योतिष का 'चंद्र' है जिससे कि प्रत्येक मनुष्य की 'राशि' अर्थात् उसके व्यक्तिगत स्वभाव, गुण इत्यादि का पता लगाया जाता है। यही चैतन्य धार व सोत है जिससे रचना के तीसरे बड़े विभाग की संपूर्ण सजीव सृष्टि को मूल में चैतन्यता प्रदान की जाती है। यही वह स्थान भी है जहाँ से एक दूसरी धार जिसे 'जड़ चेतन'

(निर्जीव पदार्थों में पाई जाने वाली चेतनता) कहते हैं, पिंड देश के भौतिक उपादान तत्वों को प्राप्त होती है। विद्युत् जो पृथ्वी पर पाई जाती है, इसी आध्यात्मिक-तत्व रहित जीवन-धार या जड़-चेतन की धार का व्यक्त रूप है। संतों ने अपनी बानी में इसे 'बिजली' (आकाशीय विद्युत्) कहा है। पाँच तत्वों की सूक्ष्म धारों के पाँच सूक्ष्म मंडल पिंड देश के चंद्र स्थान के नीचे हैं और वे अपने अपने विभिन्न रंगों में चमकते हैं। नीचे कविता का एक चरण उद्धृत किया जाता है जिसमें उपर्युक्त बातों का उल्लेख किया गया है—

पांच रंग निरखे तत सारा ।
चमक बीजली चंद्र निहारा ।।
फोड़ा तिल का द्वारा हो ।।

(मैंने) 'तत्वों' के पाँच मूल रंग देखे, चंद्र की बिजली की दमक देखी और फिर तीसरे नेत्र के द्वार को सहसा खोल डाला यानी ब्रह्मांड के प्रवेश द्वार के फाटक को खोल लिया।

प्रकरण १०५

पिंड देश के अधिवासी

३८९—रचना के तीसरे बड़े दरजे के वासियों के स्थूल शरीर उसी लोक या मंडल के मसाले के बने हुए हैं, जहाँ कि वे रहते हैं। उदाहरणार्थ, हमारी पृथ्वी पर रहने वाले जीवधारियों के शरीर उन्हीं पदार्थों के बने हुए हैं जो कि पृथ्वी ही से प्राप्त होते हैं, चाहे स्थूल रूप के या चाहे सूक्ष्म रूप के हों।

३९०—सूर्य बिंब और चंद्र बिंब जो कि पृथ्वी के बिंब से अधिक ऊपर हैं, उसकी अपेक्षा बहुत बारीक और सूक्ष्म उपादान-तत्व के बने हुए हैं। इसीलिए वे पृथ्वी की अपेक्षा बहुत अधिक प्रकाशवान हैं तथा चैतन्यता और शक्ति से बहुत अधिक मात्रा में भरे हुए हैं। इसी कारण से उन लोकों के अधिवासियों के शरीर हमारे शरीर की अपेक्षा बहुत अधिक प्रकाशवान और सूक्ष्म हैं और उनका जीवन भी अपेक्षाकृत अत्यधिक आनंदमय है।

३९१—पाँच तत्व और चौरासी धारें जिनका उल्लेख प्रकरण १०२ में हुआ है, ब्रह्मांड से पिंड में उतरते हर क़दम पर स्थूलतर होती चली आई हैं। चंद्र और सूर्य मंडलों में उनका रूप अति सूक्ष्म है। अन्य स्थानों या लोकों में जिस क़दर कि वे सबसे ऊपर के बिंब से दूर होते गए हैं, उसी क़दर उनकी स्थूलता बढ़ती गई है।

३९२—पृथ्वी पर के हमारे अनुभव से यह अनुमान कि मंडलों के ठोस, तरल और वायवीय भागों में ही बस्ती होगी, अस्वाभाविक नहीं है। मगर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। प्रत्येक लोक के इन से भी सूक्ष्मतर स्तरों में भी बस्ती है और वहाँ के वासियों की काया तदनुकूल सूक्ष्म है।

३९३—हमारे शरीर के तीन स्पष्ट स्वरूप, स्थूल सूक्ष्म और कारण, एक प्रकार से ब्रह्म के तीन रूपों की छाया हैं। ऊपर जो कहा गया है कि जीव केवल सूक्ष्म शरीर में भी रह सकता है, कोई कथन या सिद्धांत मात्र ही नहीं है क्योंकि अपने स्थूल शरीर में रहते हुए भी उसका सूक्ष्म शरीर मौजूद ही है। हमारे स्थूल रूप में होने पर सूक्ष्म अवस्थाएँ कमोबेश गुप्त रहती हैं, परंतु जब हम स्वप्न या लय इत्यादि अवस्थाओं में जाते हैं तब वे अपने को प्रकट कर देती है।

३९४—इसी प्रकार इसके विपरीत, देह-रहित भूत प्रेत का जिनका होना अब संदेह से परे माना जाता है, सूक्ष्म शरीर सक्रिय है और स्थूल रूप कभी कभी वे धारण कर लेते हैं।

३९५—विदेह आत्माओं से किसी क़दर सदृश आत्माएँ तीसरे बड़े विभाग के सर्व बिंबों के सूक्ष्मतर स्तरों पर निवास करती हैं।

३९६—यह कहने की क्वचित ही आवश्यकता होगी कि पृथ्वी लोक से नीचे के लोकों के अधिवासी पृथ्वी लोक के रहने वालों की अपेक्षा निम्न कोटि के हैं।

३९७—विदेह भूत प्रेत आत्माओं का इस पृथ्वी पर दिखाई पड़ना हमेशा सांसारिक वासनाओं और बंधनों के कारण होता है और इन वासनाओं तथा बंधनों की प्रकृति अनुसार उनके काम आवश्यकतानुसार हितकारी या अहितकारी होते हैं।

३९८—चूँकि नीचे के तीन चक्र मनुष्य और पशु दोनों में अधिकांश समान कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं, इसलिये इन चक्रों की कार्रवाइयों में नीच प्रवृत्ति और वासनाओं का बाहुल्य रहता है। ऊंचे दरजे के भाव और इच्छाओं से वे नियमतः शून्य होते हैं। इसलिए इन नीचे के तीन चक्रों से संबंध रखने वाले लोकों के वासियों के स्वभाव और आचरण प्रधानतः पशुवत् होते हैं। वहाँ के सूक्ष्म शरीर धारी अधिवासी दुष्ट मति व भ्रष्टाचारी होने से दुश्चरित्र होते हैं। उनकी खुशियाँ और आनंद अति निम्न कोटि के होते हैं। तथा वे मनुष्यों के सुख और आनंद के साथ किसी प्रकार भी समता नहीं कर सकते। ये सकल अधिवासी कमोबेश नरक में रहने वालों की तरह हैं जिनका वर्णन हम नीचे देते हैं।

प्रकरण १०६

नरक और वहाँ के अधिवासी

३९९—रचना के तीसरे बड़े दरजे के सबसे नीचे वाले लोक के नीचे ठीक वह हिस्सा है जो रचना से पूर्व का नीचे का सिरा या ध्रुव था। वहाँ कोई व्यवस्थित रचना नहीं है। वह एक तौर पर एक ऐसा बड़ा विस्तृत प्रदेश है जहाँ से कि चैतन्यता खिंच गई हो। जो कुछ भी सृष्टि वहाँ है, वह एक क्षुद्र श्रेणी की है जिसमें महासुत्र और ब्रह्मांड के पैंदे की उप-रचना का यत्किंचित् सुदूर आभास दिखाई देता है। यह क्षुद्र रचना नरक कहलाती है जो यातनाओं और दुःखों से भरी पड़ी है। यहाँ के रहने वाले बड़े दुष्टातिदुष्ट प्रवृत्ति वाले हैं व जो दुर्भाग्य से दंड भोगने या सुधार के लिए इसमें डाले जाते हैं उनको वे सदा यंत्रणाएं देते रहते हैं।

४००—रचना से पूर्व की अवस्था से लेकर रचना की निम्नातिनिम्न अवस्था तक का जो कि नरक में है, समस्त रचना-क्रम का वर्णन हमने यहाँ समाप्त किया, यद्यपि यह विवरण वास्तव में अति स्वल्प है। रचना के प्रत्येक बड़े विभाग का वर्णन करने में समस्त रचना की व्यवस्था की भी किंचित् विशद रूप से

व्याख्या कर दी गई है। अब हमें दो बातों का ज़िक्र करने की ज़रुरत है। सर्व-सामान्य व्यवस्था जिसके अनुसार तीनों बड़े दरजों का पारस्परिक संबंध नियमित है और प्रत्येक विभाग में पाई जाने वाली सामान्य दशा का अवलोकन करना अब शेष रहा है।

प्रकरण १०७

रचना के तीनों बड़े विभागों की सर्व सामान्य व्यवस्था

४०१—जहाँ तक रचना के पहले बड़े विभाग के मंडलों का संबंध है, उसके विषय में यहाँ बहुत कम कहने की आवश्यकता है। वे असीम कुल-मालिक के प्रत्यक्ष-दृश्य-प्रदेश में हैं और एक प्रकार से वे उसके निज धाम के अंग रूप हैं। रचना के समय ये चैतन्य प्रदेश सुरत और शब्द की धारों द्वारा इस क़दर चैतन्य हो गए कि आगे उनको और अधिक चेतनीकरण करने की कोई आवश्यकता नहीं रही। रचना की प्रथम अवस्था पूर्ण होने पर, रचना से पूर्व का जो कुछ मिश्रण (न्यून चैतन्यता) शेष था, वह रचना के द्वितीय क्रम के, नीचे की ओर, आरंभ होने पर छाँट दिया गया और इसलिए जैसा कि पहले कहा जा चुका है, निर्मल चैतन्य देश अब हर प्रकार से परिपूर्ण है। इसलिए काल यानी समय के व्यतीत होने पर निर्मल चैतन्य देश में कभी भी कोई परिवर्तन आने का नहीं है या उसमें कुछ और जोड़ने घटाने की गुँजाइश नहीं है। निर्मल चैतन्य देश का विस्तार, ब्रह्मांड और पिंड के ब-मुक़ाबले अत्यंत अधिक है।

४०२—रचना के अन्य दो बड़े विभागों की दशा दूसरी ही है। उनकी चैतन्यता इस क़दर पूर्ण नहीं है कि बिना मदद के स्वतंत्र रीति से (आप ही आप) अपना काम चला सकें। इसलिये ब्रह्मांड के प्रत्येक भाग को अपने अपने बे-शुमार ब्रह्म और आद्या सहित बारी बारी से आवश्यक सहायता प्राप्त करने के लिए निर्मल चैतन्य देश के सम्मुख होने की ज़रूरत है। ब्रह्मांड के सत्तलोक की चारों ओर परिक्रमा करने का यही कारण है और परिक्रमा करते समय ब्रह्मांड

और निर्मल चैतन्य प्रदेशों के बीच की यथोचित दूरी, ब्रह्मांड के निम्नस्थ प्रदेशों द्वारा उस पर विपरीत प्रभाव के कारण सदा सुरक्षित रहती है।

४०३—ब्रह्मांड और निर्मल चैतन्य देश के उपर्युक्त इस संबंध की तरह रचना के तीसरे बड़े दरजे और ब्रह्मांड में भी यही संबंध है। इसी तरह तीसरा बड़ा दरजा यानी पिंड देश, ब्रह्मांड की परिक्रमा कर रहा है और उससे मदद हासिल करता है।

४०४—पुनः, ब्रह्मांड और पिंड का झुकाव सर्वांश में अत्यंत-निम्न-ध्रुव की ओर है क्योंकि ब्रह्मांड, रचना के पूर्व में निरपेक्ष क्षेत्र के उस भाग में अवस्थित है जो कि मूल-निम्न-ध्रुव से लगा हुआ था (देखिए प्रकरण ९१)। इस झुकाव की बराबर क्रिया होते रहने के फलस्वरूप चैतन्य शक्ति का प्रवाह निरंतर नीचे की ओर जारी है और यह चैतन्यता निम्न प्रदेशों द्वारा जो धूल की तरह शुष्क हैं, बड़ी उत्सुकता से सोख़ ली जाती है। मगर रचना के पूर्व से ही इन हिस्सों की कुछ बनावट ही इस क़िस्म की है कि जिस दरजे की चैतन्यता इनके भाग में आरंभ में ही आ गई, उससे ऊंचे दरजे की चैतन्यता वे दीर्घ काल तक धारण नहीं कर सकते, मानो नीचे की ओर लगातार प्रवाह से जो चैतन्यता इकट्ठी होती रहती है वह पानी की भाप की तरह ऊपर उठने लगती है और इस प्रकार ऊर्ध्वगामिनी एक अलग धार स्थापित होती है।

४०५—यह ऊर्ध्वगामिनी धार विशेष कर रचना के तीसरे बड़े दरजे में अत्यन्त हितावह कार्य करती है क्योंकि उसके साथ नरक और पिंड देश के निम्नतर लोकों के जीव ऊपर के लोकों में चढ़ आते हैं। किंतु तीसरे बड़े दरजे के सबसे ऊपर वाले लोक के आगे यह धार नहीं चढ़ सकती। इसलिए ऊपर जाने की इस कुदरती रीति से उच्चतम स्थान जहाँ तक जीव पहुँच सकता है, वह चंद्र स्थान है। वहाँ पहुँचने पर दोनों धारों का यह घेरा पूरा हो जाता है और पुनः नीचे की ओर उतार आरम्भ हो जाता है। यह चक्कर "चौरासी का चक्र" कहलाता है और जब तक ऊपर के देशों में जाने की विशेष साधना-अभ्यास कोई न कर ले, तब तक वह इस चक्कर के परे नहीं जा सकता।

४०६—यहाँ जो कुछ हमने कहा है, वह सामूहिक रूप से ब्रह्मांड और पिंड दोनों के लिए लागू है। अब हम रचना के तीसरे और दूसरे बड़े दरजों के एक एक सौर्य जगत और ब्रह्म जगत में प्राप्त अवस्थाओं के विषय में और अधिक विवरण देवेंगे।

प्रकरण १०८

महा-प्रलय और प्रलय

४०७—जब एक ब्रह्म मंडल चैतन्य प्रदेश की अपनी पूरी अति-दीर्घ-कालीन-परिक्रमा कर लेता है और इस काल में उसकी, पिंड देश के उस भाग को जो उसके अधीन है सहायता प्रदान करते करते, चैतन्यता अत्यन्त क्षीण हो जाती है तब वह सत्तलोक के निकटतम पहुँचता है अर्थात् उस समय उसकी चैतन्य देश से युति उपस्थित होती है। उस पर उस देश का इतना भारी प्रभाव पड़ता है कि वह पूर्ण ब्रह्मांड मय अपने अधीनस्थ प्रदेशों के ऊपर खिंच जाता है और रचना से पूर्व जो अवस्था थी, वही कमोबेश फिर हो जाती है। इस परिवर्तन को 'महा प्रलय' (महा विघटन) कहते हैं।

४०८—महा प्रलय से उत्पन्न होने वाली अवस्था उस समय तक क़ायम रहती है, जब तक कि फिर दुबारा रचना कर सकने के लायक़ आवश्यक चैतन्यता प्राप्त न हो जावे। फिर जिस तरह कि पहले सृष्टि हुई थी, उसी क्रम में फिर से ब्रह्मांड और उसकेअधीनस्थ प्रदेशों की रचना होती है।

४०९—प्रत्येक सौर्य मंडल का भी ठीक इसी प्रकार लय होता है, लेकिन उनके इस लय का ब्रह्मांड पर असर नहीं पड़ता। सौर्य मंडलों की पुनः रचना ब्रह्मांडों की पुनः रचना ही के सदृश होती है। सौर्य मंडलों के लय को 'प्रलय' कहते हैं।

प्रकरण १०९

मनुष्य के अतिरिक्त अन्य अधिवासियों की बनावट

४१०—मनुष्य को छोड़ कर बाक़ी जितने अधिवासी कुल रचना में ऊपर से नीचे तक हैं, सब का यह एक सामान्य लक्षण है कि

जिस देश का कि वह अधिवासी है उसके हिसाब से उसमें केवल तीन चक्र ही कारकुन रहते हैं। रचना के जिस बड़े विभाग का वह वासी है, उस देश के शेष तीन चक्र उसकी काया में अस्पष्ट चिन्हित रहते हैं जो जगाए नहीं जा सकते और इस कारण से वे किसी भी हालत में बृहत् विभागों के उन मंडलों से जिनसे वे संबंधित हैं, संबंध स्थापित करने के योग्य नहीं होते। इन अधिवासियों के निजी बड़े विभाग के ऊपर के या नीचे के दो शेष बड़े विभागों के मंडलों का कोई भी अवशिष्ट चिन्ह उनकी काया की व्यवस्था में कहीं ढूंढने से कठिनाई से पाया जावेगा।

४११—उदाहरणार्थ, निर्मल चैतन्य देश के सब से ऊंचे तीन स्थानों में यानी राधास्वामी धाम, अगम और अलख लोकों की बासी सुरतों की काया में कुल तीन ग़िलाफ या आवरण होंगे, जिनका संबंध उल्लिखित तीन स्थानों के मंडलों से होगा। इन तीनों में से अत्यंत सक्रिय और प्रमुख वह ग़िलाफ होगा जो उस अधिवासी सुरत के स्थान से संबंध रखता होगा। बाक़ी दो ग़िलाफ उसके मातहत होते हैं; परन्तु वे बे-काम नहीं होते। अनामी, सत्तलोक और भँवरगुफा इन तीन मंडलों के स्थान सब से बाहर के ग़िलाफ के सब से नीचे वाले भाग में सब मिल कर एक जगह चिन्हित रहते हैं। वे केवल बिंदु मात्र होते हैं और उल्लिखित तीन नीचे के मंडलों के चिन्ह मात्र हैं। मगर इनका कभी कोई उपयोग नहीं होता क्योंकि निर्मल चैतन्य देश के ऊपर वाले तीन स्थानों का वासी अपने अपने लोक के आनन्द में अपनी बनावट के कारण इस क़दर मग्न रहता है कि उसके कारण नीचे के तीन स्थानों में उतरने का उसे कोई अवकाश ही प्राप्त नहीं होता। वह ऊपर भी नहीं चढ़ सकता क्योंकि प्रत्येक अधिवासी को अपनी अपनी चैतन्यता के अनुसार रचना के क्रम में जो निवास स्थान मिलता है, वह चिरस्थाई होता है। ब्रह्मांड के वासियों के संबंध में भी यही व्यवस्था ठीक है।

४१२—हाँ, रचना के तीसरे बड़े विभाग में ऊर्ध्वगामिनी धार के प्रभाव में जो अधिवासी आ जाते हैं, उनको हर जन्म में ऊपर चढ़ने

और आगे चलने में उससे तब तक मदद मिलती है जब तक कि वे पिंड के सब से ऊपर के स्थान यानी चन्द्रलोक तक न पहुँच जावें। ब्रह्मांड में नीचे उतरने वाली धार जब तक कि 'महाप्रलय' न हो, उलट नहीं सकती। इसीलिए ब्रह्मांड के अधिवासी एक बड़ी संख्या में तीसरे बड़े विभाग के प्रदेशों में उतर आते हैं।

प्रकरण ११०

ब्रह्म और कुल-मालिक के अवतार

४१३—ब्रह्मांड के इन उपर्युक्त वासियों को वापस ले जाने तथा पिंड देश की अवस्था को सुधारने के लिए ब्रह्म को अक्सर इस देश में अवतार लेना पड़ता है। इसी उद्देश्य से ब्रह्म अपने पुत्र और पैग़म्बरों को भी (अर्थात् ब्रह्मांड वासियों को अपनी चैतन्य शक्ति से विशेष रूप से संपन्न कर) अनेक बार भेजा करता है।

४१४—इसी प्रकार सच्चा परम कर्त्तार कुल मालिक भी जो चैतन्यता का अनन्त मूल है, अगम है और ऊंचे से ऊंचे अनन्त चैतन्य धाम का सर्व उदात्त प्रतापवान ओजस्वी पूरन धनी है, जब यह त्रिलोकी सत्तदेश की युति की सीमा के भीतर यानी सम्मुख आ जाती है, उस समय वह अपनी पूर्ण दया की उमंग में अवतार धारण कर इस पृथ्वी पर चरण पधारता है। ऐसे आनन्दमय अवसरों पर अटूट चैतन्यता का प्रवाह होता है और रचना के पहले बड़े दरजे के नीचे की कुल सृष्टि कृतार्थ व सनाथ होकर उसका महान् उपकार और हित होता है। यही वह समय है जब कि सर्व नर शरीर धारी जीवों को उस आध्यात्मिक साधना व शिक्षण का सुयोग प्राप्त होता है जिससे वे उस सच्चे कुल्ल-कर्तार के महल और धाम में दखल पा सकते हैं। उनके चरण पधारने से ब्रह्मांड और पिंड में सबसे उच्च कोटि की चैतन्यता प्रवाहित होती है और ऊर्ध्वगामिनी धारा स्थापित हो जाती है। इसके ही मार्ग द्वारा अभ्यासी भक्त पहले बड़े विभाग में पहुँच जाता है और सदा के लिए परमानन्द और अमरत्व को प्राप्त हो जाता है।

४१५—राधास्वामी दयाल के अवतार के चरण पधारने के साथ साथ उच्चतर लोकों के अधिवासी (विशेष कर ब्रह्मांड के रहने वाले) इस प्रकार उपस्थित स्वर्ण अवसर से अनेक बार लाभ उठाते हैं और उनके साथ इस संसार में चले आते हैं। ये ही सब से अधिक अधिकारी और उपयुक्त सुरतें हैं जिनमें सत्तलोक और उससे भी ऊँचे देशों की चैतन्यता का बीजा डाला जा सकता है। ऐसा होना नितान्त आवश्यक है क्योंकि इसके बिना वह चैतन्यता उन्हें प्राप्त नहीं हो सकती जिसके बल वे पहले बड़े विभाग के साथ संस्थापित धारा पर सवार होकर वहाँ पहुँच सकें। अंतरमुख अभ्यास और भक्ति की रीति उन जीवों को बड़ी अनुकूल पड़ती है और उसमें उनको सदैव सफलता भी मिलती है।

४१६—सत्तलोक तक चढ़ाई केवल इन्हीं उल्लिखित जीवों तक सीमित नहीं है बल्कि रचना के तीसरे बड़े विभाग के विभिन्न मंडलों के जो अतिशय चैतन्यशील और अधिकारी जीव हैं—चाहे वे मनुष्य हों या अन्य कोई प्राणी—उनमें भी सब से ऊँचे दरजे की चैतन्यता का बीजा डाला जाता है। धीरे धीरे इन चैतन्यशील जीवों में राधास्वामी दयाल की बतलाई हुई आध्यात्मिक जुक्ति का अभ्यास करने की आवश्यक आध्यात्मिक शक्ति और बल का उदय होता है और अंत में ये भी सच्चे उद्धार और अमर पद को प्राप्त करते हैं।

४१७—जैसा कि प्रकरण ५२ में कहा गया है संत, राधास्वामी दयाल के निज पुत्र हैं क्योंकि उनकी आध्यात्मिक सत्ता उन्हीं के अंग से निकली है। उल्लिखित युति के शुभ अवसर पर वे (संत) भी इस दुनिया में बारंबार पधारते हैं और प्रायः स्वयं तेजस्वी कुल-मालिक राधास्वामी दयाल के अवतार की तरह जीवों का हित और उद्धार करते हैं।

४१८—जब युति की अवधि समाप्त होने को आती है तब जैसा कि प्रकरण १०८ में कहा है, महा प्रलय हो जाता है। मगर उस समय तक जीवों के उद्धार व चेतनीकरण का कार्य भी समाप्त हो जाता है।

प्रकरण १११

मनुष्य की बनावट, एक पूर्ण लघु-विश्व, आध्यात्मिक उन्नति के लिए अनुकूल

४१९—मनुष्य चोले में गुदा चक्र से लेकर ऊपर के चक्र तक जो कि दोनों आँखों को जोड़ने वाली रेखा के मध्य में है छःओं चक्र कारकुन हैं। इसलिए मनुष्य में पिंड देश के छःओं मंडल सब के सब सक्रिय रूप से चिन्हित या प्रतिरूपित हैं। सर्व साधारण नियम के अनुसार जो जीव मात्र को लागू है, मनुष्य के ऊपर के तीन चक्र स्वभावतः क्रियाशील होने चाहिए क्योंकि मनुष्य का निवास पिंड के ऊपर के तीन मंडलों में सबसे नीचे के मंडल यानी पृथ्वी पर है। ब्रह्मांड से उतरने वाली धार तथा चंद्र और सूर्य लोकों से आने वाली धारें नीचे को बहती बहती पृथ्वी पर पहुँचते तक बहुत प्रबल वेग धारण कर लेती हैं। इस वेग के प्रभाव से मनुष्य के नीचे के तीन चक्र भी (जो रचना के तीसरे बड़े विभाग के सबसे नीचे के तीन मंडलों से संबंध रखते हैं), शुद्ध चैतन्य और ब्रह्मांड देशों में लागू उपर्युक्त सर्व-सामान्य नियम के विरुद्ध, जाग्रत हो गए हैं। इसलिए इस पृथ्वी पर पशुओं और मनुष्यों दोनों में नीचे के तीन चक्र अधिक उन्नत दशा को प्राप्त हो जाते हैं।

४२०—मनुष्य में जो इस पृथ्वी पर अन्य चीजों की अपेक्षा चैतन्यता में बहुत श्रेष्ठ है, ऊपर के तीन चक्र नीचे के तीन चक्रों को चैतन्यता और शक्ति प्रदान करते करते, स्वयं इतने हीन नहीं हो जाते कि उनका कार्य किसी क़दर बंद हो जावे। मगर अन्य जीवों का हाल दूसरा है। एक तो उनमें चैतन्यता स्वयं कम है, दूसरे ऊपर के चक्रों से नीचे की ओर प्रवाहित होते रहने से इन चक्रों की चेतनता में बहुत न्यूनता आ जाती है जिसके कारण उनके मानसिक व्यापार, विशेष कर अमूर्त्त पदार्थों या भावों की कल्पना कर सकने की शक्ति बहुत क्षीण हो गई है। बहुत से जीवों में उनका हृदय चक्र ही उनकी सुरत की बैठक का स्थान है और उनका दिमाग़ काटकर अलग कर देने पर भी वे जीवित रह सकते हैं।

४२१—ऊपर वर्णित निम्नगामी धार का वेग बड़ा प्रबल है। जब तक मन के विकारों का जो सभी इस धार से प्रभावित होते हैं, थोड़ा बहुत दमन न हो ले और जब तक अपने व्यवहार की निरंतर चौकीदारी करते हुए इनका अनावश्यक और अनुचित भोग न रोका जावे, तब तक कोई भी इस धार पर, सीधा सामना करते हुए, विजय प्राप्त नहीं कर सकता।

४२२—ऊपर जो कुछ हमने कहा है, उससे यह स्पष्ट रूप से विदित होता है कि मनुष्य ही एक ऐसा जीव है जिसमें ब्रह्मांड के छः उपविभाग क्रियाशील अवस्था में प्रतिबिंबित होते हैं। वह यंत्र जिससे यह प्रतिबिंबित क्रिया होती है, मस्तिष्क में पाया जाता है (देखिए प्रकरण २३ और २४) और मस्तिष्क में बने हुए छिद्रों द्वारा जिनमें ब्रह्मांड की सुप्त शक्तियाँ पाई जाने से व जिनमें से होकर प्रतिबिंबित कार्य के प्रतिफलित होने से यानी स्वंय प्रवृत कार्य द्वारा, उचित शिक्षण से मनुष्य की सुरत ब्रह्मांड में गति प्राप्त कर सकती है। और चूंकि स्वयं ब्रह्मांड, निर्मल चैतन्य देश का प्रतिबिंब है, इसलिए उन धारों में जिनके द्वारा मानवीय लघु-विश्व में ब्रह्मांड की प्रतिबिंबित अवस्थाएँ स्थापित होती हैं, निर्मल चैतन्य देश की प्रतिबिंबित क्रिया शक्तियों का समिश्रण होता है। इसलिए इन क्रिया-शक्तियों का प्रतिबिंब भी मनुष्य के दिमाग़ में अंकित है और निर्मल चैतन्य देश से संबध स्थापित करने तथा वहाँ गति प्राप्त करने के लिये मस्तिष्क में छिद्र बने हुए हैं।

४२३—इस प्रकार मनुष्य को विश्व में जो स्थान और जितनी चैतन्यता प्राप्त है, उसके लिहाज़ से उसे अपनी एक स्वतः की सृष्टि प्राप्त है और जिसकी बनावट इस प्रकार हुई है कि उसमें कुल रचना के समस्त मंडलों के, चैतन्यता के उच्चतम स्रोत से लेकर रचना-विहीन-निम्न-ध्रुव तक के नमूने मौजूद हैं तथा ऐसे छिद्र बने हुए हैं और ऐसी गुप्त शक्तियाँ मौजूद हैं कि जिनके द्वारा ऊंचे से ऊंचे धाम में पहुँच सकना उसके लिए शक्य है। इसलिए मनुष्य चोला ही कुल रचना का सच्चा और पूरा लघु नमूना है और इसी अपूर्व सम्पत्ति

के कारण मनुष्य, देवदूतों और ब्रह्म लोक के अधिवासियों से भी बढ़ कर समझा जाता है। कुल-मालिक राधास्वामी दयाल, उनके प्यारे पुत्र संत तथा ब्रह्म और उसका संदेश लाने वाले दूत पैग़ंबर इत्यादि का अवतार भी मनुष्य चोले ही में होने का यही मुख्य कारण है।

४२४—इसीलिए ब्रह्मांड के अधिवासियों को भी जब निर्मल चैतन्य देश में जाने की अभिलाषा उत्पन्न होती है तब उनको मनुष्य चोला धारण करना पड़ता है जो केवल पृथ्वी मंडल पर आने से ही मिल सकता है क्योंकि सिर्फ इसी नर देही में जो एक पूर्ण लघु-विश्व है, संतों का आध्यात्मिक अभ्यास बन सकता है और ब्रह्मांड के अधिवासियों को निर्मल चैतन्य देश के अस्तित्व तथा वहाँ के सुख और आनन्द का भेद व पता देने के लिए अक्सर संतों का ब्रह्मांड के विभिन्न स्थानों में जाना हुआ करता है। चूंकि ब्रह्मांड में रहने वाले बहुत निर्मल और पवित्र होते हैं तथा उनमें चैतन्यता भी विशेष होती है इसलिए संत जो भेद और पता देते हैं, उसे ग्रहण करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती और शीघ्र ही निर्मल चैतन्य देश में जाने की तीव्र अभिलाषा उनमें उत्पन्न हो जाती है। जब यह अभिलाषा यथेष्ट बलवान हो लेती है, तब वे मनुष्य चोले में आते हैं। ब्रह्मांड का आनंद इतना भारी और मुग्ध करने वाला है कि उच्चतर आध्यात्मिक भेद की ही अकेली जानकारी उनमें इस क़िस्म की इच्छा जिसका हमने उल्लेख किया है, पैदा कर सकती है।

प्रकरण ११२

पृथ्वी पर मनुष्य और मनुष्येतर[1] जाति के जीवों की यात्रा

४२५—ब्रह्मांड के अधिवासियों का जीवन बड़ी लम्बी अवधि का होता है और उनमें से अधिकांश ऐसे हैं जिनका अन्त 'महा प्रलय' के समय देश अभाव के साथ ही होता है। हम यह बतला चुके हैं कि ब्रह्मांड से एक निम्नगामी धार पिंड में आती है। इस निम्नगामी

१ मनुष्य को छोड़कर (अन्य)

धार के साथ ब्रह्मांड के निचले तीन लोकों के बहुत से अधिवासी और कोई कोई उनसे भी ऊपर के स्थानों से भी पिंड में उतर आते हैं। नियमतः वे इस पृथ्वी पर आकर सदा मनुष्य चोला धारण करते हैं क्योंकि उसकी बदौलत वे ब्रह्मांड और उससे भी ऊंचे प्रदेशों को उचित रीति से शिक्षा पाकर व साधना करके लौट सकते हैं। और एक यह भी कारण है कि नीचे उतरने वाली धार मानो पहला ठेका पृथ्वी तल पर ही लेती है, तब पीछे और नीचे उतरती है। मगर इस तरह से यहाँ निवास पाने वालों की संख्या बहुत बड़ी नहीं है। पृथ्वी पर अधिकांश में पिंड देश के अनेक लोकों या स्थानों से ही यहाँ आकर निवास करते हैं अथवा अन्य रीति से यहाँ जन्म लेते हैं।

४२६—प्रकरण १०५ से मालूम होगा कि रचना के तीसरे बड़े दरजे का हर एक मंडल अपने अपने 'अग्नि तत्व' और 'आकाश' के सूक्ष्म मंडलों से घिरा हुआ है और ये सूक्ष्म मंडल भी बसे हुए हैं और वहाँ के अधिवासियों की वासनाएँ और प्रवृत्तियाँ उसी मंडल के निचले तीन स्तरों के अधिवासियों की सी हैं। बल्कि उनके खयालात, भाषा और रोज़मर्रा की ज़िन्दगी भी स्थूल स्तरों के वासियों से मिलती जुलती है। ये सूक्ष्म देहधारी अपने सूक्ष्म जीवन की अवधि समाप्त होने पर अक्सर उसी लोक के स्थूलतर रूपों में जन्म लेते हैं। इन सूक्ष्म लोकों में मनुष्यों से मिलते जुलते सूक्ष्म रूप धारियों के अतिरिक्त पशु प्रवृत्ति और पशु आकृति के जीव भी बसते हैं। इस पृथ्वी पर जो भिन्न भिन्न जाति के मनुष्य और पशु पाए जाते हैं, वे सब उक्त दो सूक्ष्म मंडलों से आते हैं। पृथ्वी से नीचे के तीन लोकों का और ऊपर के दो लोकों का साधारणतया यही उल्लिखित हाल है। उक्त स्त्रोत और 'चौरासी' की निम्नतर धाराएँ (देखिए प्रकरण १०२) भी पृथ्वी समेत प्रत्येक लोक की बस्ती का कारण हैं।

४२७—प्रकरण १०७ से यह भी मालूम होगा कि समस्त सौर्य जगत ब्रह्मांड के चारों ओर, शून्य में, चक्कर लगा रहे हैं और ब्रह्मांड भी इसी तरह निरमल चैतन्य देश की परिक्रमा कर रहा है। इन

परिक्रमाओं की अवधि में पृथ्वी और अन्य लोक अनेक बार ऐसी सृष्टियों के निकट आ जाते हैं जिनके जीव जन्तु (जिनमें मनुष्य शामिल है) और वृक्ष लता आदि हमारी पृथ्वी के जीव जन्तुओं और वृक्ष लता आदि से किसी क़दर भिन्न हैं। इस प्रकार की युति के अवसर पर अपने जगत के सूक्ष्मतर भागों और जिस सृष्टि के निकट हम पहुँच जाते हैं, उसके सूक्ष्मतर भागों में परस्पर कुछ स्नेह सा हो जाता है। तब हमारी पृथ्वी पर नए नए प्रकार के जीव जंतु वग़ैरा प्रकट हो जाते हैं और बहुधा पृथ्वी तल के खोदे जाने पर इस पृथ्वी मंडल पर अप्राप्य जीव जंतुओं के अवशेषों के चिन्ह रूप शिलाओं के अन्तरगत मिलते हैं।

प्रकरण ११३

जन्म से पहले सुरतों की अवस्था

४२८—जैसा कि कहा जा चुका है कि निर्मल चैतन्य देश के वासियों की मृत्यु नहीं होती है क्योंकि निर्मल चैतन्य देश में अभाव या क्षय नहीं है। रचना के दूसरे बड़े दरजे यानी ब्रह्मांड में भी हम लोगों की तरह मृत्यु नहीं है। ब्रह्मांड के अधिवासी अधिकांश में जब तक महा-प्रलय का समय न हो, तब तक जीवित रहते हैं। ब्रह्मांड देश के प्रलय के साथ वहाँ के अधिवासी रचना से पूर्व की अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं और जब फिर दूसरे बड़े दरजे की रचना होती है तब वे पुनः जन्म धारण करते हैं।

४२९—ब्रह्मांड के अधिवासियों में से थोड़ों का तीसरे बड़े दरजे में उतार होने पर जो परिवर्तन उनमें होता है, वह साधारणतः मृत्यु के समय होने वाले परिवर्तन के समान नहीं है। ब्रह्मांड से उतार होते समय उन पर वैसी ही अवस्थाएँ गुज़रती हैं जो नर शरीर में जन्म लेने वाले जीव के ऊपर गुज़रती हैं। यहाँ याद रखना चाहिए कि जन्म से पूर्वावस्था जो कहा है उसका अभिप्राय जन्म से पूर्व गर्भ के भीतर की अवस्था से नहीं है, बल्कि जन्म लेने वाले जीव की सुरत की आन्तरिक अवस्था (चैतन्य समाधि) से है।

४३०—इसको सब अच्छी तरह जानते हैं कि जब तक गर्भ बढ़ता रहता है तब तक स्वाँस क्रिया नहीं होती। प्रसव होने पर ही स्वाँस की क्रिया आरंभ होती है। गर्भ में बच्चे का शरीर माता के खून से परवरिश पाता और बढ़ता है। इस प्रकार गर्भ के बच्चे के शरीर के बनाने में केवल माता ही का हाथ रहता है व जो सुरत कि उस शरीर में अंत में आने वाली होती है, उसका उस शरीर से गर्भ में बनते समय बहुत दूर का संबंध रहता है। गर्भ की इस अवस्था की तुलना जिसमें स्वाँस की क्रिया नहीं होती, गहरी मूर्छा या सकते की हालत से की जा सकती है जिसमें बहुत ही सूक्ष्म चैतन्य संबंध सुरत का शरीर से क़ायम रहता है, वरना सचमुच मरे हुए आदमी की सुरत की तरह उसकी सुरत कमोबेश उसके स्थूल शरीर से अलग रहती है।

४३१—जन्म से पूर्व सुरत की इस अवस्था को जिसका वर्णन हमने ऊपर किया है, "चैतन्य समाधि" कहते हैं। "चैतन्य समाधि" का अर्थ चेतनायुक्त लय अवस्था से है।

४३२—मनुष्य की यह 'समाधि' ज्योति नारायण के प्रदेश में होती है क्योंकि मनुष्य की सुरत की बैठक छठे चक्र में होने के कारण शरीर से इस प्रकार पृथक होना जैसा कि मृत्यु के समय होता है, केवल तभी संभव है जब कि सुरत ब्रह्मांड में प्रवेश करे। मगर ब्रह्मांड के निचले तीन लोकों में नीचे की ओर उतरने की प्रवृत्ति विशेष रूप से होने से वे इस क़िस्म की समाधि के लिए उपयुक्त नहीं हैं। ज्योति का स्थान इनकी अपेक्षा अत्यधिक स्थायी है। इसलिए जन्म से पूर्व मनुष्य के चोले में आने वाली सुरत को चंद दिन के लिए ठहरने को यह उपयुक्त स्थान है। मृत्यु के पश्चात भी जीव खिंच कर ज्योति के सामने जाता है। इसके बारे में आगे चल कर (प्रकरण ११४ में) विस्तार पूर्वक कहा जावेगा।

४३३—चूंकि दूसरे बड़े दरजे की अपेक्षा तीसरे बड़े दरजे में प्रलय अधिकतर होते रहते हैं, इससे मालूम होता है कि उच्चतर कोटि की शक्ति की हानि को पुनः ठीक रूप में पूरा करने के लिए रचना के उस भाग में जिसमें अन्य उच्चतर प्रदेशों की अपेक्षा चैतन्यता

कम है, अधिक, बार बार परिवर्तनों की आवश्यकता होती है। ऐसे ही एक अभिप्राय से निम्नतर प्रदेशों—जैसे तीसरे बड़े दरजे—के अधिवासियों को बार बार मृत्यु संज्ञक परिवर्तन को सहना पड़ता है। अतः रचना के इस विभाग को 'मृत्यु लोक' भी कहते हैं (क्योंकि यहाँ मृत्यु बार बार होती है)।

प्रकरण ११४

मनुष्य की मृत्यु, उसका क्रम और रीति

४३४—मृत्यु होने के लिए चूंकि माया के सूक्ष्म और स्थूल सभी खोलों का जो जीव ने अपने ऊपर तीसरे बड़े दरजे में धारण किए हैं, नाश होना एक आवश्यक बात है इसलिए जिस जीव की सुरत की बैठक का स्थान पिंड देश की चोटी के स्थान से संबंधित है, उसके विविध मायिक खोलों को जिनका उससे इस संसार में संबंध हो गया है, दूर करने के लिए उसका ब्रह्मांड में खिंच कर जाना ज़रूरी है। यह खिंचाव जिसे मृत्यु का हुक्म भी कह सकते हैं, सहस दल कँवल की प्रेरणा से जिसका धनी नारायण या निरंजन है, होता है। इसीलिए वह ब्रह्मांड के प्रभु का निम्नतम रूप होने के सिवा काल पुरुष (मृत्यु का देवता) भी कहलाता है। ब्रह्मांड के सबसे निचले तीन स्थल यानी विष्णु ब्रह्मा और महादेव के लोक जिनकी छाया नाभि, इन्द्री और गुदा चक्रों पर है, उनके ही सदृश उनका मुख्य काम निचले ब्रह्मांड के मायिक अंश की उचित सँभाल करना है। इससे दिखाई पड़ता है कि इनका केवल एक कार्य—दृष्ट या अदृष्ट—पालन पोषण और उत्पत्ति करने का है तथा इन दोनों क्रियाओं से उत्पन्न गंदगी (निष्प्रयोजनीय अंश) को निवारण करना है जो रह कर उन क्रियाओं के सुचारु रूप से घटित होने में बाधा डालती है। वे इस प्रकार अपने अपने स्वाभाविक अधिकारों के कारण व्यक्तिगत पिंड या लघु-विश्व रूपी नर शरीर की मृत्यु का हुक्म नहीं निकाल सकते और न उसका विघटन और नाश कर सकते। यह हुक्म ज्योति और नारायण द्वारा निकलता है क्योंकि वे ही ब्रह्मांडी मन और इच्छा हैं और वे ही केवल भाग्य के नियन्ता या विधाता हैं। इसी प्रकार व्यक्तिगत

पिंड में किसी काम के लिए हुक्म देने वाले व्यक्तिगत पिंडी मन और इच्छा हैं।

४३५—प्रकरण ९२ में हम कह चुके हैं कि काल की प्रथम धार जो चैतन्य धाम से निकली, उसमें बड़े ऊँचे दरजे की शक्ति भरी थी मगर उसमें रचना करने की शक्ति नहीं थी, जबकि दूसरी धार में रचना के पहले बड़े दरजे की सुरत की धार की प्रशाखा होने के कारण रचना करने के हेतु केन्द्र बनाने की शक्ति थी। अतएव प्रथम धार उन अवस्थाओं का जिनसे जीव के कायिक आवरण तैयार होते हैं, तत्काल विध्वंस की व्यवस्था करती है, जब कि दूसरी धार गुप्त बीजों के प्रकट और विकसित होने के लिए चैतन्य शक्ति प्रदान करती है। इसलिए मृत्यु के समय सहस्र दल कँवल से एक विनाशकारी धार उतरती है जो जीव की देहियों को नाश कर देती है। इतना हो जाने के बाद दूसरी धार जीव को ऊपर की ओर अपने निकट खींचती है। 'तीसरे तिल' पर धर्मराय यानी जीव के अधर्म कृत्यों का विचार करने वाले देवता का आसन है जो ऊपर बयान की हुई रीति से काल पुरुष की आज्ञाओं का पालन करता है। अधिक यथावत् कहा जाय तो धर्मराय वह केन्द्र है जिसके द्वारा काल की धार संहार या विनाश का कार्य करती है।

४३६—स्थूल देह का विघटन होने से जीव के भौतिक आवरण दूर हो जाते हैं लेकिन मृत्यु-समय उससे मन और उसकी वासनाओं पर कोई असर नहीं होता क्योंकि मन ब्रह्मांड के काल पुरुष की अंश है। तदनुसार मृत्यु के बाद जब सुरत का खिंचाव या हटाव ब्रह्मांड में हो जाता है तब सूक्ष्म वासनाएँ, सूक्ष्म इन्द्रियां और मन उसके साथ जाते हैं। अगर ये सांसारिक खयालों और लालसाओं से भरे पड़े हैं और सांसारिक बंधन और आसक्ति अंतर के अंतर से नहीं निकली हैं तो वे एक तौर से सुरत पर भारी बोझ बन जाती हैं और जब सुरत ब्रह्मांड के प्रवेश द्वार पर स्थित (तीसरे तिल के) निहायत बारीक सूराख में से गुज़रती है तब भयंकर ऐंठन होती है जिसका हेतु यह है कि वह इस क़दर सूक्ष्म हो जावे कि ब्रह्मांड में प्रवेश पा सके।

४३७—यह पहली सज़ा है जो मृत्यु के समय भोगनी पड़ती है। इससे सुरत अपने पाप कर्मों के बोझ से बहुत हलकी हो जाती है मगर इससे उसमें इतनी आवश्यक शुद्धता नहीं आ जाती कि वह ब्रह्मांड में बासा पा सके। सांसारिक बंधनों और प्रीतों के अत्यंत सूक्ष्म बीज सुरत के साथ अंत में ब्रह्मांड में निकल जाते हैं। ज्योंही सुरत ब्रह्मांड में पहुंचती है कि उसे ज्योति का दर्शन मिलता है लेकिन यदि उसके साथ तीसरे बड़े विभाग यानी पिंड देश के बंधन और प्रीति के बीज गए हों तो उसे देर तक ज्योति के सामने ठहरने नहीं दिया जाता। ज्योति की चैतन्य शक्ति से तुरंत उन बीज रूप सांसारिक वासनाओं में जान पड़ जाती है और उसी वक्त वे प्रकट हो पड़ती हैं। चूंकि उन चीजों की कुदरती बनावट ही ऐसी है कि वह ब्रह्मांड में ठहरने के लायक नहीं हैं, इसलिए उनके प्रकट होते ही तत्क्षण एक बड़ा ज़बरदस्त वेग नीचे की ओर जाने का उठता है। इस वेग द्वारा दैहिक प्रवृत्तियों, वासनाओं और मन के साथ सुरत को नीचे उस मैदान में फेंक दिया जाता है जो कि ब्रह्मांड की तली में है। वहाँ कुछ समय वह अकर्मण्य होकर बेहोश पड़ी रहती है। उसके बाद धर्मराय की मृत्यु के समय की आज्ञानुसार उसे बासा मिलता है। जिन क़ायदों के मुताबिक़ मृत्यु के बाद बासा मिलता है उनका वर्णन और विवरण इस पुस्तक में व्यक्तिगत कर्मों का विचार अथवा 'कर्म और उसका फल' वाले अध्याय में किया जावेगा।

प्रकरण११५
निम्न श्रेणी के जीवों की मृत्यु क्रिया

४३८—मृत्यु क्रिया का जो वर्णन हमने ऊपर किया है, स्पष्ट है, वह केवल मनुष्यों के विषय में है। अन्य जीवों की मृत्यु के सम्बन्ध से इस क्रिया में कुछ फर्क़ है। जिस जीव की सुरत की बैठक जिस मुक़ाम पर है, उसके हिसाब से हर एक की मृत्यु विधि भिन्न भिन्न है। इस पृथ्वी पर पशुओं की सृष्टि कुछ जातियों[१] में इतने नीचे दरजे की

१ वर्गों

है और पृथ्वी के नीचे के तीन स्थानों या लोकों की रचना भी इतनी निम्न श्रेणी की है कि मृत्यु होने के लिए ब्रह्मांड में खिंचने की ज़रूरत नहीं होती। रचना के तीसरे बड़े दरजे के चौथे स्थान का देवता जिसे शिव या पशुपति (पशुओं का स्वामी) कहते हैं, नारायण का प्रतिबिंब है। उसके कार्य व अधिकार तथा उसकी शक्ति जो उसके साथ रहती है यानी ज्योति के प्रतिबिंब के कार्य पशुओं की मृत्यु के संबंध से जो उसके हाथ में हैं, ज्योति नारायण के कार्य जैसे हैं।

प्रकरण ११६

मनुष्य चोला पाने वाले जीवों की मृत्यु क्रिया

४३९—ऊर्ध्वगामिनी धार के साथ जो जीव ऊपर की ओर चढ़ते चढ़ते उस स्थिति पर पहुंच जाते हैं जिसके बाद कि वह मनुष्य देह के भागी हो जाते हैं उनकी मृत्यु की विधि पृथक है। ऐसे जीवों की सुरत मृत्यु के बाद खिंच कर ब्रह्मांड तक जाती है और उन्हें उसी प्रकार की 'चैतन्य समाधि' मिलती है जिसमें कि मनुष्य चोले में जन्म लेने वाली सुरत की रहती है।

४४०—तीसरे बड़े विभाग के सूर्य लोक और चंद्र लोक की सुरतें मृत्यु के उपरान्त ब्रह्मांड में जाती हैं और आवश्यक 'समाधि' अवस्था में रह कर मनुष्य रूप में जन्म लेती हैं।

प्रकरण ११७

सुरत शक्ति और प्राकृतिक शक्तियों में द्वंद

४४१—रचना के तीसरे बड़े विभाग में जीवित रहने की शक्ति को अपने जीवन काल में भारी विरोध का सामना करना पड़ता है क्योंकि प्रकृति की सब शक्तियों का झुकाव सुरत शक्ति के झुकाव की विपरीत दिशा में है। उक्त प्राकृतिक शक्तियों का, कुल का, झुकाव निम्न ध्रुव की ओर है जब कि सुरत-शक्ति का जिसका निवास सुरत के अंतरतम भागों में है, अंतर्निहित स्वभाव शुद्ध चैतन्य देश की ओर आकर्षित होना है। कुछ काल तक सुरत-शक्ति, कहिये

तो, प्राकृतिक शक्तियों को दबाने में समर्थ होती है, किंतु अंत में उनको ही विजय प्राप्त होती है, जिसके फलस्वरूप स्थूल शरीर जिसको सुरत-शक्ति ने रचा था, इस प्रकार जीर्ण हो जाता है कि फिर आगे सुरत उसमें ठहर नहीं सकती। तब प्रकरण ११४ में बयान की हुई मृत्यु की धार द्वारा विनाश का कार्य पूर्ण होता है।

प्रकरण ११८

आवागवन, उसके लक्षण और कार्य-क्षेत्र

४४२—उपर्युक्त परिवर्तन (मृत्यु) से सांसारिक वासनाओं और प्रवृत्तियों का उन्मूलन नहीं होता और जीव फिर से उस दैहिक घाट की ओर आकर्षित होता है जो उसकी वासनाओं के अनुरूप होता है और वहाँ ऐसी योनी में जन्म लेता है जिसमें उसकी प्रबल वासना से मिलता हुआ विशेषक[१] अंग रहता है। इस उल्लिखित परिवर्तन को जिसमें जीव एक घाट से दूसरे घाट पर स्थानान्तरित होता है, 'आवागवन' (आना और जाना या पुनर्जन्म) कहते हैं।

४४३—चूँकि तीसरे बड़े विभाग की और ब्रह्मांड की भी सब शक्तियों का झुकाव प्रधानतः निम्न ध्रुव की ओर है, इसलिए सुरत की मुक्ति प्राप्त करने की स्वाभाविक चेष्टा निष्फल जाती है। प्रकरण १०७ में बयान की हुई प्राकृतिक क्रिया से वह कुछ ऊंचे में ऊपर जा सकती है, लेकिन उसकी सच्ची मुक्ति या छुटकारा संभव नहीं है, जब तक कि निर्मल चैतन्य देश की गति वाले आचार्य की सहायता उसे प्राप्त न हो और जब तक कि उस देश में ले जाने वाले आध्यात्मिक अभ्यास की नियम पूर्वक साधना न की जावे।

४४४—रचना के समय जीव की प्रथम उत्पत्ति से लेकर क्रमशः किन किन परिस्थितियों के कारण किन नियमों के आधीन कौन कौन से रूप धारण करने पड़ते हैं, उन सब की व्याख्या अधिक विस्तार से इस पुस्तक के 'कर्म' वाले अध्याय में की जावेगी।

---

१. विभेदक, अलग करने वाला।

४४५—चूंकि निर्मल चैतन्य देश और उसके अधिवासी किसी प्रकार के परिवर्तन तथा विघटन के अधीन नहीं है, इसलिए उस देश में प्राप्त-व्यवस्था में आवागवन का कोई अंग नहीं है।

४४६—पहले कहा जा चुका है कि संत, रचना के पहले बड़े दरजे से उतर कर ब्रह्मांड और नीचे के लोकों में सुरतों को मन और माया की गुलामी से छुड़ाने और अन्य प्रकार से नीचे के लोकों का रूहानी दरजा ऊंचा करने के दयामय उद्देश्य से आते हैं। लेकिन इस तरह उनका नीचे पृथ्वी पर चरण पधारना मामूली आवागवन में नहीं शुमार किया जा सकता क्योंकि इस पृथ्वी पर संत सतगुरु स्वरूप में अवतार धारण कर लेने से संतों की सुरत का अपने तेजस्वी परम पिता राधास्वामी दयाल केसाथ जागता सूत (क्रियाशील संबंध) यथा पूर्वक बना रहता है।

४४७—इसके विपरीत प्रत्येक जन्म के बाद पूर्व जन्मों की तथा जन्म से पूर्व की अवस्था की साधारणतः कोई भी अन्य बात जीव को याद नहीं रहती। लेकिन ऐसे प्रमाणिक उदाहरणों की कमी नहीं है जिनसे पूर्व जन्मों की कुछ याद बनी रहना अचूक रूप से सिद्ध होता है। इस तरह की असाधारण घटनाएँ विज्ञान की दृष्टि से बड़े अर्थ की हैं। इसलिए उनकी खोज लगाना चाहिए और एक सर्वमान्य वैज्ञानिक तत्व पर हमेशा के लिए पहुँचना चाहिए। इस प्रकार इन घटनाओं की वैज्ञानिक रीति से गवेषणा करने और इनकी यथार्थता को स्वीकार करने से चैतन्य शक्ति के गुण और स्वभाव इत्यादि का विशेष रूप से निरूपण हो सकेगा एवं आवागवन का सिद्धांत प्रत्यक्ष और निश्चित, स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो जावेगा। ब्रह्मांड और पिंड देश की रचना व्यवस्था के संबंध से जो विवरण हमने दिए हैं, उनसे पुनर्जन्मवाद अथवा आवागवन के सिद्धांत का नतीजा तर्क सहित साफ़ साफ़ निकलता है। तथापि जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त करना अधिक संतोषजनक होगा।

४४८—ब्रह्मांड में पिंड की तरह देही[१] का आवागवन जल्द जल्द नहीं होता।

---

१ जीव।

४४९—आवागवन का उद्देश्य यह है कि (१) हर जन्म में सुरतों को कुछ अंश तक नई चैतन्य शक्ति प्रदान की जावे, (२) बीच बीच में जीवों को सच्चे सुधार का मौक़ा दिया जावे, (३) पाप कर्मों का क्या फल होता है, इसका वैयक्तिक अनुभव उन्हें प्राप्त करने का अवसर दिया जावे, तथा (४) दैहिक बंधनों के बोझ को जो नीचे देशों में बासा पाने के कारण पैदा होना अनिवार्य है, बार बार मृत्यु का त्रास सहने और दुख संताप के झेलने से किसी क़दर हलका किया जावे।

प्रकरण ११९

जीवन की चार अवस्थाएँ

४५०—यह बात तो मामूली अवलोकन की जान पड़ती है कि प्राणियों में, विशेष कर मनुष्य में, जीवन की चार अवस्थाएँ साफ़ साफ़ अलग अलग नज़र आती हैं। जीवन का पहला भाग या अवस्था जन्म से लेकर वयस्क होते तक है। अवस्था का यह काल जीवन-शक्ति से ओत प्रोत और उल्लास से भरा हुआ होता है। किसी क़िस्म की चिंता व फिक्र नहीं होता। स्त्री पुरुष का खयाल नहीं होता। इसके विरुद्ध यदि कोई असाधारण अवस्था पैदा न हो तो यह समय भोले भाले सुख और आनन्द का भी होता है, यहाँ तक कि मामूली से मामूली चीज़ या घटना भी सुख और आनन्द को देने वाली हो सकती है। जीवन के अन्य किसी काल की अपेक्षा, बाल्य काल में लय तथा मोहन-निद्रा की अवस्था को लौट सकने की योग्यता अधिक रहती है।

४५१—वयस्क होने पर जीवन का द्वितीय भाग शुरू होता है और जीवन शक्ति के भाटे या उतार अवस्था के प्रथम चिन्ह दृष्टिगोचर होने तक जारी रहता है। जीवन के ज्वार (चढ़ाव) की भाँति जो जीवन के प्रथम दो भागों में रहता है, यह भाटा (उतार) दो भागों में विभाजित है:— (१) वह समय जिसमें भाटा (उतार) की झटक का असर ज्यादा महसूस नहीं होता और जवानी की सब क्रियाएँ यथावत चलती सी रहती हैं, (२) वृद्धावस्था जिसमें कि

शरीर में सिकुड़न स्पष्ट दिखलाई देने लगती है और शारीरिक अन्य क्रियाओं का उलटा बहाव होने लगता है।

४५२—भर यौवन में लालसाएँ और आशाएँ जवानी के मद की तरह बड़ी प्रबल रहती हैं और जब जीवनी शक्ति एकत्रित होते होते इतनी बढ़ गई कि बह निकले, तब उसके प्रभाव वश मनुष्य कठिनाइयों और विघ्न बाधाओं की कुछ परवाह नहीं करता व उन्हें हलका गिनता है। प्रत्येक बार विफल मनोरथ होने पर शीघ्र ही यौवन की प्रतिक्रिया और सजीवता के कारण वह पूर्व की संतुलित अवस्था को पुनः प्राप्त हो जाता है और जीवन उस समय कमोबेश एक मीठे नशे की हालत सा प्रतीत होता है।

४५३—जीवन की तृतीय अवस्था में जवानी का जोश व उफान ठंडा पड़ कर उसका स्थान अनुभव व चातुर्य ग्रहण करता है। हृदय में उदारता व एक-विश्वता के भाव उदय होने लगते हैं। यही वह समय है जब कि मनुष्य को साधारणतः धन संपत्ति प्रतिष्ठा और ख्याति के साथ अधिक से अधिक सफलता प्राप्त होती है।

४५४—जीवन की चतुर्थ अथवा अंतिम अवस्था एक द्वितीय बाल्य काल है, परन्तु यदि मनुष्य का जीवन सदाचारी रहा हो और यदि वह जीवन भर मर्यादा का पालन करता रहा हो तो यह अवस्था भी अपने विशिष्ट सुख और आनंद से खाली नहीं होती। बचपन के भोले सुखोल्लास के सिवा अनुभव और होशियारी की मधुरता का सुख रहता है। इस अन्तिम अवस्था में जीवनी शक्तियों में भारी भाटा (उतार) आता है जिससे स्थूल तन बहुत नाज़ुक हो जाता है। छोटी छोटी बातें भी बुढ़ापे में साधारणतया असर करने वाली होती हैं तथा ऋतु परिवर्तन से भी बहुधा ऊंच नीच लगने लगता है। रोग और बीमारी भी अक्सर घेरे रहती हैं। मगर परमार्थ की दृष्टि से यह अन्तर की ओर का बहाव विशेष रूप से लाभकारी है क्योंकि इससे सुरत को स्वाभाविक प्रेरणा उस रंध्र की ओर आकृष्ट होने की होती है जिसमें गुज़रने से मृत्यु हो जाती है और उस परमार्थी अभ्यास में मदद मिलती है जिससे अभ्यासी जब चाहे जब उस छिद्र में प्रवेश पा सके।

४५५—ऊपर जो जीवन की चार अवस्थाओं का वर्णन किया गया है, वह मनुष्य जीवन का एक नमूना है। किंतु वही सब जीवों के जीवन पर घटित किया जा सकता है बशर्ते कि असाधारण घटनाओं या मालिक की खास खास मौज के कारण परिवर्तनों का खयाल ध्यान में रक्खा जाय।

प्रकरण १२०

जीवन की चार अवस्थाओं का रचना में सादृश्य

४५६—चूंकि पूर्व कथित सिद्धांत अनुसार सारी रचना चैतन्यता की धारों से जो रचना की प्रत्येक वस्तु को विविध रूप और विविध परिमाण में शक्ति प्रदान कर रहीं हैं उत्पन्न हुई है, इसलिए लघु विश्व रूपी नर चोले में पाई जाने वाली चार अवस्थाओं का सादृश्य रचना के कुल विभागों में भी ढूंढ़ निकालना तर्क-असंगत न होगा। जो कुछ हम कह चुके हैं, उससे लक्षित होता है कि चेतनता की धारों के ज्वार भाटा यानी चढ़ाव उतार के हिसाब से ये चार अवस्थाएँ घटित होती हैं। इसलिए बृहद रचना के उस हिस्से में जो इसी प्रकार ज्वार भाटे या चढ़ाव उतार के अधीन है, ये चार अवस्थाएँ पाई जावेंगी। निर्मल चैतन्य देश की रचना अविनाशी और स्थाई है। इसलिए वहाँ यानी रचना के पहले बड़े दरजे में उपर्युक्त विभाजन नहीं है। रचना के दूसरे और तीसरे बड़े दरजे परस्पर विरुद्ध शक्तियों के कार्यक्षेत्र के अधीन हैं, इसलिए चार अवस्थाओं का उल्लिखित सादृश्य हमें उनमें खोजना चाहिए। लेकिन चूंकि ब्रह्मांड में हेर फेर केवल महा-प्रलय के समय होते हैं और महा-प्रलय इतने दीर्घ काल पश्चात् होता है कि उस काल का कोई अनुमान नहीं किया जा सकता, इसलिए वहाँ भी ये चार अवस्थाएँ स्पष्ट रूप से लक्षित नहीं होतीं।

प्रकरण १२१

चार युग, पहले तीन युगों में जीवन और प्रकृति की मनोरम अवस्था

४५७—रचना के तीसरे बड़े दरजे में विघटन व अभाव जल्द जल्द और बार बार होता है। इसलिए उल्लिखित चार अवस्थाएँ यहाँ

स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं व इन्हें 'युग' कहते हैं और वे ये हैं—'सत', 'त्रेता', 'द्वापर' और 'कलि'। चारों 'युगों' की बाहरी या ज़ाहिरी हालतें बहुत कुछ मनुष्य जीवन की ऊपर बयान की हुई चार अवस्थाओं के समान हैं।

४५८—'सतयुग' में रचना करने वाली धार जो कि ताज़ा ताज़ा ही उतर कर पिंड देश में आई थी, चैतन्यता से खूब भरी हुई थी जिससे उसने यहाँ की सजीव और निर्जीव हर एक चीज़ को भर दिया। प्रकृति का दृश्य अतिशय मनोरम और उन्नतिकारक था और हर चीज़ ऋतु परिवर्तन की असुविधाओं में कमी कर देने वाली थी। स्वास्थ्य और बाहुल्य की रेल पेल थी। शारीरिक कष्ट और रोग, पाप कृत्य, कुत्सित विचार, आपा और अहंकार प्रायः लोग जानते ही न थे। पूर्ण स्वास्थ्य और अपने जीवन का मज़ा लूटते हुए मनुष्य और अन्यान्य प्राणी आनन्द से जीवन व्यतीत करते थे। पूरी उम्र पाकर मृत्यु होती थी और उसमें कोई कष्ट नहीं होता था। जिस प्रकार पका फल आप ही आप गिर जाता है, उसी प्रकार आत्मा अनायास शरीर रूपी वृक्ष से पृथक हो जाती थी। हमारी आयु की अपेक्षा सतयुग में जीवन की अवधि अति दीर्घ होती थी। अधिक चैतन्यता और हृदय की शुद्धता के कारण लोग कभी कभी आसानी से सूक्ष्म लोकों में जाकर पूर्वजों से मिल कर संभाषण करते थे। इस युग की अवधि सब से अधिक थी। इसी युग में पिंड देश के अधिवासियों ने रचना के दयामय उद्देश्य को समझ कर उसकी क़दर की। ब्रह्मांड में जीवन कितना अधिक मूल्यवान होगा, कहने की अपेक्षा उसका अनुमान अधिक किया जा सकता है।

४५९—इसके बाद 'त्रेता युग' में भी लगभग 'सतयुग' की सी ही अवस्था रही और जीवन बहुत आनन्दमय था। मगर निम्नगामी धार का असर जो क्रम क्रम करके इकट्ठा हो रहा था, किसी क़दर हानिकारक रूप में प्रकट हुआ जिसका दोष दूर करने के लिए रामचन्द्र का अवतार हुआ।

४६०—'द्वापर युग' में पुनः आनन्दमय जीवन में विघ्न बाधा उपस्थित करने वाली अवस्थाओं का उपचय होने पर उनके कलुष का

नाश करने के लिए रचना के दूसरे बड़े दरजे यानी ब्रह्मांड का सबसे बड़ा अवतार श्री कृष्ण महाराज का हुआ।

४६१—ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे मालूम होगा कि पिंड देश के जीवों के लिए तीनों युगों का समय एक वरदान का समय था और किसी को शिकायत का मौक़ा न था। पिंड देश की अवधि के आठ भागों में से सात से अधिक भाग इन तीनों युगों में व्यतीत होते हैं।

प्रकरण १२२

कलियुग, उसके कष्ट तथा यही समय उद्धार का है

४६२—प्रकरण ११० में समझाए गए संतों के पधारने के समय के नियम के अनुसार चौथे युग का आरंभ कुछ समय पूर्व हुआ है। भूचालों की संख्या में बराबर वृद्धि होना, बार बार ऐसी दुर्घटनाओं का होना जिनमें जान और माल का बहुत नुक़सान हो, प्लेग का फैलना जो जीव विनाश का एक अत्यंत ज़बरदस्त और ख़ौफ़नाक ज़रिया है, जल्द जल्द अकाल पड़ना जो प्रचुरता का शोषण कर लाखों को तड़पा तड़पा कर भूखों मरने और कंगाली की हृदय विदारक तथा आतंक कारक अवस्था को पहुँचा देता है, सूर्य धरातल पर बड़े बड़े उत्पादों का होना जो कि अब जल्द जल्द होने लगे हैं, ये सब बातें अचूक रूप से ज़ाहिर करती हैं कि हमारा सूर्य मंडल अब अपने जीवन की चौथी अवस्था में गुज़र रहा है।

४६३—जिस प्रकार पृथ्वी के विभिन्न भागों के जलवायु का बहुत कुछ प्रभाव वहाँ रहने वाले मनुष्यों और अन्य जीव जन्तुओं के स्वास्थ्य, बनावट और आदतों पर पड़ता है उसी प्रकार कलियुग की विशिष्ट अवस्थाओं का प्रभाव भी रचना के तीसरे बड़े दरजे के समस्त जीव जन्तुओं पर पड़ता है। पिंड देश की मुख्य चैतन्य धार में ब्रह्मांड की ओर भाटा या हटाव होने के कारण पिंड देश के स्थूल द्रव्य में जो विकार और आकुंचन होता जा रहा है, उसी के कारण ऊपर वर्णन की हुई आपत्तियाँ और पीड़ायें उपस्थित हो रही हैं।

४६४—किंतु आध्यात्मिक दृष्टिकोण से 'कलियुग' सबसे ऊंचे दरजे के परमार्थी शिक्षण के लिए अत्यंत उपयुक्त युग है क्योंकि यही समय पिंड और ब्रह्मांड की निर्मल चैतन्य देश के साथ युति होने का समय है। वे क्लेश और रोग जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, चाहे अभी कुछ समय तक और भी अधिक बार बार आवें मगर उनका आंतरिक प्रभाव संतों के चरण पधारने से बहुत कुछ मृदु हो गया है तथा ये हालतें अन्य प्रकार से भी परमार्थ में लाभकारी हैं।

४६५—दुर्भिक्ष, प्लेग, भूचाल और दुर्घटनाओं का प्रभाव बुरे कामों से बचे रहने के लिये बहुत बड़ा है क्योंकि जिन लोगों पर यह दैवी कोप होता है वह जब देखते हैं कि दुनिया का कोई सहारा संभव या कारगर नहीं, तब स्वाभाविकतया अपने करतार की तरफ मुड़ते हैं और जो अन्य लोग स्वतः इस कोप के भाजन नहीं हैं वे लोग भी, कहा जाय तो, इह लौकिक दौड़ धूप में एक क्षण के लिए ठिठक रहते हैं और इस जगत के सुख ऐश्वर्य धन संपति और महत्वाकांक्षाओं की क्षण भंगुरता, और भी ज़िन्दगी की ना-पायदारी और बे-एतबारी, जबरन उनके ध्यान में आने लगती है। इस तौर से आप ही आप उठने वाले ख़याल अगर्चे वे बहुत कठोर तजुर्बे के बाद पैदा हुए हैं, किसी क़दर सुरत के अंतर के अंतर में जो कि स्वयं रचना के सिमटाव का समय आने के कारण अब ऊंचे दरजे की ताक़तों के ज़ेर-असर है, असर करते हैं।

४६६—उल्लेखित ऊपर की ओर के आकर्षण के कारण पृथ्वी की हर क़ौम के लोगों में धर्म या परमार्थ की प्यास जागती हुई स्पष्ट व अचूक दिखलाई दे रही है। आजकल जो असाधारण आध्यात्मिक करामातें और हालतें दिन दिन अधिक बार बार देखने में आ रही हैं, उनका भी यही कारण है।

४६७—हमारे मत के सिद्धांत अनुसार वह दिन दूर नहीं जब कि निर्मल चैतन्य देश से आने वाली चैतन्य की धार का इस संसार में प्रभुत्व स्थापित होगा और यह समय रचना के प्रथम बड़े विभाग के

साथ इस पृथ्वी मंडल की युति के केन्द्रीय रूप में होने का होगा। उस वक्त ये सब तकलीफें और मुसीबतें जो इस वक्त हम पर गुज़र रही हैं, ग़ायब हो जावेंगी और 'सतयुग' से भी अधिक सुख, हर्ष और आनन्द की अवस्था आवेगी। आध्यात्मिक शक्तियाँ जो इस समय इतनी गुप्त व प्रच्छन्न रहती हैं, उस वक्त अधिक मात्रा में प्रकट दिखाई पड़ेंगी और बिना अधिक कष्ट और कठिनाई के आध्यात्मिक साधना में सफलता प्राप्त होगी तथा अभ्यासी या भक्त को आध्यात्मिक और आंतरिक अनुभव इतने अधिक और इतने बार बार प्राप्त होगें कि अभ्यासी को जीते जी इसी पृथ्वी मंडल पर अपने सत्य उद्धार तथा निर्मल चैतन्य देश में बासा मिलने का स्पष्ट, प्रमाण सहित, पूरा पूरा निश्चय आ जावेगा।

४६८—इस प्रकार जब रचना के दूसरे और तीसरे बड़े दरजों में आध्यात्मिक पुनरुद्धार तथा ऊपर गति हो लेगी, तब महा प्रलय का समय आवेगा। उसके होते तक जीव एक बड़ी अधिक संख्या में निर्मल चैतन्य देश में पहुँच कर सदा के लिए अमर हो जावेंगे। ब्रह्मांड और पिंड के बाक़ी जीव और रचना भी महा प्रलय द्वारा विशेष रूप से उपकृत होगी। तब फिर नई सृष्टि के क्रम का आरम्भ होगा और पूर्व सृष्टि की तरह फिर ब्रह्मांड और पिंड के आध्यात्मिक हित और लाभ की रक्षा होगी।

प्रकरण १२३

रचना की विभिन्नता का मूल

४६९—पिछले पृष्ठों में रचना की आदि की और व्यवस्था की व्याख्या करते समय उसके उद्देश्य का भी थोड़ा थोड़ा करके, कभी प्रत्यक्ष रूप से और कभी प्रसंगवश, वर्णन हुआ है। उद्देश्य के इन टुकड़ों को फिर संक्षेप में दोहराना तथा रचना के अत्यंत दयामय उद्देश्य का इस स्थान पर स्वतन्त्र रूप में विशद वर्णन करने से पूर्व यह उचित प्रतीत होता है कि उन कारणों का वर्णन कर दिया जावे जिनसे इस रचना में जो कि हमारे मतानुसार चैतन्य शक्ति के पहले से ही

विद्यमान शाश्वत ध्रुवीकरण के भाव में होने से और उसके ज़ोर पकड़ने पर ज़हूर में आई, (उसमें) असंख्य प्रकार की चित्र विचित्र सृष्टि हुई।

४७०—प्रकरण ७७ में हम समझा चुके हैं कि ध्रुवीकरण का कारण चैतन्य शक्ति का एक दिशा में एक अनंत विस्तार के रूप में एकत्रित होना या समूह बनाना था और विपरीत दिशा से चैतन्यता के बृहद् रूप में खिंच जाने से रिक्तीकरण का होना था। इस मत का साफ नतीजा निकलता है कि जो कुछ मौजूद है वह केवल चैतन्यता की तीव्रता या समूहीकरण में विभेद होने के फलस्वरूप है। यह बात प्रकट है कि रचना होने में चैतन्यता में विविध अगणित क्रम स्थापित होकर श्रेणी बद्ध होने के सिवाय कोई नई चीज़ ने जो पहले नहीं थी, प्रवेश नहीं पाया है। बल्कि रचना का मतलब यह है कि चैतन्य में अनेक दरजे या श्रेणियाँ जो पहले न थीं, क़ायम हो गई। रचना के सिद्धांत संबंध में यही हमारा मत है। अब आम तौर से आगे यह बतलावेंगे कि रचना में अगणित विभिन्नता कैसे पैदा हुई।

४७१—प्रकरण ८१ में हम वर्णन कर चुके हैं कि चैतन्यता के असीम और अति उच्च परम ध्रुव जो मानो शाश्वत कुल्ल-मालिक की असीम सत्ता का स्वरूप था, उसकी भरपूर और पूर्ण द्युति, शक्ति, आनंद और ज्ञान के आगे न्यून चैतन्य के भाग उस मालिक की दृष्टि में इन निर्दिष्ट गुणों की परिपूर्णता की अपेक्षा न्यून प्रतीत होते थे। परिपूर्ण अवस्था के लक्षणों की अपेक्षा न्यून अवस्था के लक्षणों की भिन्नता ही प्रत्येक कोटि की चैतन्यता की विशिष्ट विशेषता[१] का मूल कारण या आरंभ है। हमारे इस कथन के उदाहरण स्वरूप हम नीचे के ध्रुव की दशा का जहाँ कि चैतन्यता की अत्यन्त बिखेर अवस्था प्राप्त है, विचार विमर्श करेंगे।

४७२—उत्तर ध्रुव की अत्यंत शक्तिमय अवस्था से तुलना की जाय तो नीचे का ध्रुव क़रीब क़रीब पूर्ण अचेष्ट अवस्था में है। इसलिये केवल 'शक्ति' की दृष्टि के विचार से उच्चतम ध्रुव, कार्य

१ विभेद या अलग करने वाली।

कर्त्ता और रचयिता है और नीचे का ध्रुव, वह सामग्री उपस्थित करता है जिस पर कि कार्य किया जाता है। इस पिछली कोटि में हम चैतन्यता के सब तल या घाट शामिल कर सकते हैं जो चैतन्यता के परम स्रोत से किसी क़दर भी चैतन्यता में कम हैं।

४७३—अब इन दोनों ध्रुवों को 'ज्ञान' की विचार दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होगा कि निम्न ध्रुव में चैतन्यता की अत्यन्त न्यून अवस्था में कोई ज्ञान और अपना होश नहीं रहता। वहाँ ज्ञान का एक लेशमात्र चिन्ह व प्रमाण वहाँ का क़ानून है जिसके अनुसार वहाँ की देही व बनावट का काम नियमित हो रहा है। परम ध्रुव की अवस्था इसके ठीक विपरीत है। उस सर्वज्ञ करतार को निम्न ध्रुव में जो स्थूलतम मूढ़ता की अवस्था प्राप्त है, वहाँ की चैतन्यता की क्षीणातिक्षीण किरण भी उसे ज्ञान प्राप्त कराने के लिए पर्याप्त है। इन दो ध्रुवों के बीच में चैतन्य के अगणित दरजे हैं और प्रत्येक दरजे में उस दरजे की चैतन्य की मात्रा के अनुसार ज्ञान है। चैतन्यता की कमी के साथ आनन्द और द्युति में भी उसी हिसाब से कमी होती गई है।

४७४—इस प्रकार नीचे के ध्रुव में आनन्द और द्युति के विपरीत अवस्था है यानी वहाँ दुःख और अधंकार है। तदनुकूल नीचे के ध्रुव के गुण जड़ता, अज्ञान, दुःख और अंधकार हैं, चूंकि वह ध्रुव ब-ज़ाते-खुद बाहोश नहीं है, इसलिए उसे अपनी इन अवस्थाओं की कोई खबर नहीं है।

४७५—ज्ञाता पुरुष अगर वहाँ पहुँच जाय तो उसको अलबत्ता इन गुणों की खबर हो सकती है। कुल्ल-मालिक को ऊपर कही हुई हालत में नीचे के ध्रुव की सब अवस्था मालूम हैं। कुल्ल-मालिक का हर क़िस्म की हालत का ज्ञान सही और दुरुस्त है और सुरतों को भी जो कि उसकी अत्यल्प अंश हैं, उसी तरह का ज्ञान होता है, हालाँकि वह बहुत छोटे पैमाने पर और एक सीमित परिधि में होता है।

४७६—यह कथन कि 'किसी पदार्थ का निषेधात्मक ज्ञान अर्थात् उसके विषय में झूठी कल्पनाओं या धारणाओं का निषेध विधि से निराकरण करना सुनिश्चित ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता', हमारे विचाराधीन विषय को लागू नहीं होता।

४७७—जब हम कमी रोशनी के मुखतलिफ दरजे धुंधुकार, धुंधलापन, अंधकार, इत्यादि शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं होता कि ये अवस्थाएँ प्रकाश विहीनता के विविध क्रम के कारण हैं। जिस वस्तु को हम समझाते आ रहे हैं, वह अनुभव की भिन्नता है जो किसी शक्ति में न्यूनता आती रहने के कारण उत्पन्न होती है। इस प्रकार का अनुभव या ज्ञान निश्चयात्मक ज्ञान है क्योंकि सामान्य व स्वस्थ अवस्थाओं में जीवात्मा पर जो संस्कार पड़ते हैं, वे ही उसके ज्ञान के ज़रिये हैं और उन्हीं की परिभाषा अनुभव है । चूंकि निम्न ध्रुव का स्थूल से स्थूल तल चैतन्यता से पूर्ण रहित नहीं है, इसलिए उस ध्रुव की अवस्था का ज्ञान, निषेध का ज्ञान, नहीं है बल्कि चैतन्य के अत्यंत बिखेर की अवस्था का जो प्रकृति में दृष्टव्य है। जब कि यही ज्ञान कुल्ल-मालिक का दृष्टिगोचर ज्ञान है तो फिर उसकी यथार्थता और निश्चयता में संदेह करने की जगह ही नहीं।

४७८—इसलिए हमारे मत के अनुसार रूप, रंग, द्युति, शक्ति, ज्ञान, आनन्द इत्यादि की असंख्य विभिन्नता, भिन्न भिन्न कोटि की चैतन्यता के भिन्न भिन्न प्रकार के अनुभवों द्वारा उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त ये अनुभव, संबंधित-पदार्थों की यथार्थताओं से विभिन्न नहीं हैं क्योंकि इन्हीं यथार्थताओं का तो कुल्ल-मालिक को भी अनुभव है।

४७९—यदि इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्ति का सिद्धांत जो प्रकरण ९६ और ९७ में प्रतिपादित किया गया है, सत्य हो तो फिर सब प्रकार के ज्ञानों के प्राप्त होने में वह ज्ञेय पदार्थ स्वयं सूक्ष्म रूप से हमारे भीतर स्थित तत्संबंधी तन्मात्रा द्वारा हमें ज्ञान प्राप्त कराता है और इसलिए हमारे अनुभवों का वही प्रकार है जो कि उन ज्ञेय पदार्थों की सूक्ष्म बनावट का प्रकार है। अगर यह बात सत्य है तो अनुभवों या ज्ञान को ज्ञेय पदार्थों से अलग नहीं किया जा सकता और न वे उन अनुभवों से भिन्न हैं। ये अनुभव, सज्ञान देहियों में प्रसारित भिन्न भिन्न कोटि की चैतन्यता द्वारा विविध भाँति जनित परिणाम हैं। इस प्रकार कारण

की कार्य पर हमेशा छाप पड़ती है और दोनों एक ही अभिन्न वस्तु की दो भिन्न भिन्न अवस्थाएँ मात्र हैं। किन्तु कार्य कारण की अपनी अपनी परिस्थितियाँ भिन्न भिन्न प्रकृति की होती हैं, अतएव दोनों के आंतरिक सहज संबंध का पता लगना संभव नहीं होता है।

४८०—इस सिद्धांत के दृष्टांत स्वरूप सूर्य की किरण को लीजिए। यदि कहा जाय तो कह सकते हैं कि वह सूर्य से प्रसारित सूर्य की ही एक प्रशाखा है और साथ ही साथ सूर्य से विकीर्ण होने वाली शक्ति का कार्य या परिणाम है। सूर्य की किरण की परीक्षा करने से जान पड़ेगा कि उसमें छोटे पैमाने पर सूक्ष्म रूप में उसके स्रोत या कारण का रूप तथा घटक द्रव्य आदि मौजूद हैं। इस दृष्टांत में कारज के अंदर कारण का तत्व रहना साफ प्रकट है और यही रीति है जिससे ऊपर से लेकर निम्न ध्रुव की तलछट तक कुल रचना का विकास हुआ है।

प्रकरण १२४

रचना का दयामय उद्देश्य

४८१—कुल्ल-मालिक सर्वग्राही हर्ष और प्रेम का, परम ज्ञान का जिससे कुछ छिपा न रहे, सर्वोपरि शक्ति और चैतन्यता का जिससे हर चीज़ को ताक़त और चेतनता मिलती है और अवर्णनीय क्रांति के प्रकाश का अनन्त और अपार अर्णव है। इस नित्य, अनंत, और विकास से अस्पृष्ट, सर्व महिमान्वित अवस्था में वह मौजूद रहता है। सबकी आदि ऐसे कुल्ल-मालिक का संपर्क, निश्चय करके उसके सत्व के कल्याणकारी गुणों से युक्त होना ही चाहिए। इसलिए रचना से पूर्व उस निःसीम स्रोत के अतिरिक्त स्तरों या तलों का उससे संग होना व उसके अधीन रहना, परम दयामय अर्थ से परिपूर्ण था।

४८२—क्रमशः समय पूर्ण होने पर जब इस संग का प्रभाव अत्यंत अवस्था को पहुँचा तब कुल-मालिक के हम-ज़ात चैतन्य की एक ज़बरदस्त धार नीचे पधारने से नीचे की तह में एक गौरवशालिनी रचना खिल उठी। वह देश जो कि कुल्ल-मालिक के निकटतम था

और बाक़ी की कुल रचना के मुक़ाबले में विस्तार में अत्यंत विशालतर था, तत्क्षण अमर और अविनाशी बना दिया गया और इतना चैतन्यवान हो गया कि वहाँ की रचना भी स्वयं बोध युक्त या ज्ञानवान हो गई तथा हमेशा के लिए परम स्रोत के साथ अनुरक्त हो गई। इस देश के अधिवासी भी जिनकी संख्या का अनुपात शेष कुल रचना के अधिवासियों की संख्या के अनुपात से कल्पनातीत अधिक है, अचेत जड़ निद्रा की अवस्था से जाग उठे और उनको अत्यंत हर्ष व आनन्द की अजर अमर अवस्था प्राप्त हो गई जिसको कोई भी इसके विपरीत अवस्था की लेशमात्र छाया भी किसी भी प्रकार से छू तक नहीं सकती। रचना से पूर्व परम स्रोत के नीचे के देश का बहुत बड़ा विभाग उस उपकार या अनुग्रह का भाजन हुआ कि जो अनिर्वचनीय है। क्वचित ही यह कहने की आवश्यकता होगी कि इस देश की रचना करने में जो दयामय उद्देश्य निहित था, वह प्रायेण अचिंत्य है और केवल कुल-मालिक ही जो परम आनंद स्वरूप है, ऐसे उद्देश्य की कल्पना कर सकता था।

४८३—रचना के दूसरे हिस्सों को पैदा करने में भी किसी प्रकार कम दया का मतलब न था। रचना से पूर्व की अवस्था में अन्य भागों में जो कमी चैतन्यता की थी, उसकी वजह से वह हिस्से उस दया का जिसकी कुल-मालिक ने वर्षा की, पूरा पूरा फायदा नहीं उठा सकते थे परंतु वह दयामय उद्देश्य अपना प्रयोजन, हो सकते तक, ज़्यादा से ज़्यादा पूरा करने में नहीं चूका। इस कमी के कारण पैदा हुई बुराइयाँ कम से कम कर दी गई और उनकी तीव्रता में कमी आ गई और इन अन्य भागों को रचना की व्यवस्था में ऐसा स्थान दिया गया जिससे कि वे अंत में जीवित रहने के आनंद के बढ़ाने में सदा योग देते रहें।

४८४—जिस दोष का ऊपर संकेत किया गया है, वह रचना के दूसरे बड़े विभाग में प्रायः नाम मात्र को है और जब उसके व्यक्त होने का समय आ जाता है तब महा प्रलय हो जाती है जिससे वह अपना ज़ोर दिखलाने नहीं पाता। कुल्ल-मालिक द्वारा चैतन्य देश को

अपना अंग बनाने के बाद आंशिक रचना का बृहद् भाग जिसे हम रचना के दूसरे बड़े विभाग के रूप में पाते हैं उसमें भी रचना का उद्देश्य, पहले विभाग के किसी क़दर समान कार्यात्मक रूप में प्रायः चिरस्थायी सुख और आनंद का प्रदान करना था।

४८५—तीसरे बड़े विभाग का चैतन्य निम्नतम श्रेणी का है और तदनुकूल इस विभाग में अधम प्रवृत्तियाँ, दुःख और यातना बहुत बड़ी मात्रा में जीवन के साथ लगी हुई हैं तथापि वे सर्व वस्तुएं पहले के युगों में अपने को प्रकाशित नहीं करती हैं यानी नहीं पाई जाती हैं और उस समय के जीवन के आनन्द को रचना से पूर्व की हालत की अपेक्षा एक भारी वरदान समझना चाहिए।

४८६—तीसरे विभाग की आयु के लगभग आठवें भाग में ही यहाँ के बासी मायिक और मलीन बासनाओं के सीधे वशीभूत हो विविध प्रकार के दुःखों, चिंताओं, भय इत्यादि से पीड़ित रहते हैं। इस अवधि के बीच में उन्हें अपने पाप कर्मों का दंड नर्क में जाकर उठाना पड़ता है।

४८७—लेकिन इन उलटी अवस्थाओं द्वारा ऐसा परिवर्तन होता है कि उसके फल स्वरूप माया के खोल या ग़िलाफ उतर जाते हैं और अनति काल में ही उस दया के अधिकारी हो जाते हैं जो संत साध आचार्यों के यहाँ चरण पधारने पर उनके साथ आती है। यदि महा प्रलय का समय आ गया हो तो यह दया निर्मल चैतन्य देश के धनी कुल्ल-कर्त्तार से सीधी यहाँ आती है, वरना ब्रह्मांड से आती है। प्रथम दशा में जब दया सीधी आती है तब पिंड देश के अधिवासियों को अति महान् आध्यात्मिक लाभ की प्राप्ति होती है और उनकी बहुत भारी संख्या को साधना द्वारा पहले बड़े दरजे के अमर देशों में प्रवेश पाने योग्य बनाया जाता है।

४८८—इसलिए यदि हम इस बात पर विचार करें कि इस पिंड देश में भी कितने दीर्घ काल तक अधिवासियों को सुख-भोग प्राप्त होता है और अपेक्षाकृत कितने अल्प काल के लिए दुख भोगना पड़ता है और वह भी केवल उनकी शुद्धि और सफाई के लिए तो

सबसे नीचे दरजे की रचना का भी किस प्रकार दयामय उद्देश्य है, वह अति स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हो जाता है एवं कुल्ल-मालिक की सर्व निर्धारित व्यवस्था में उसकी बुद्धिमत्ता बलात् हृदयंगम होती है।

४८९—जब सुरत की अंतर्निहित शक्तियाँ कुछ परिमाण में जाग जातीं या विकसित हो जाती हैं तब सभी हमारे हित में अनुकूल या प्रतिकूल घटनाओं और अवस्थाओं से रचना विकसित करने की दयामय मौज और मसलहत निःसंदिग्ध चिन्हों व नियमों द्वारा दरसने लगती है जिसकी झलक पाकर विभोर हो भक्त प्रेम और हर्षोत्कर्ष की दशा को प्राप्त हो कुल्ल-कर्त्तार के गुणानुवाद दिल से गाता है। अगर इस उल्लास की अवस्था तीव्र हो तो अपने भावों को किसी रूप से प्रकाशित करने की शक्ति खो देता है यानी मूक हो जाता है और इस हर्षातिरक की अवस्था में मानो वह कुल्ल-मालिक से संलाप करता है।

४९०—रचना का उद्देश्य तर्क वितर्क की धुधँली विधियों द्वारा जानने की अपेक्षा जो यथार्थ वस्तु के दर्शन को नहीं करने देतीं या यथार्थता को छिपा लेती हैं, यदि अ-तर्कित तात्कालिक सहज शुद्ध आंतरिक ज्ञान शक्ति द्वारा प्रत्यक्ष दरसने लगे या अनुभव में आ जावे तो वह कुल्ल-कर्त्तार की दयामय मौज या हुक्म को जान लेना है। इसलिए वह आध्यात्मिक साधना कराने का छात्रालय अर्थात् वह संगत जहाँ इस प्रकार का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सकता है, एक धन्य संस्था है जिसका खास निगरां या संरक्षक स्वंय कुल्ल-मालिक है।

४९१—केवल विद्या बुद्धि द्वारा प्राप्त ऊंची से ऊंची संभावित शिक्षा और विकास, प्रयोगात्मक रीति से रचना का उद्देश्य समझने के लिए पर्याप्त नहीं है और रचना के उद्देश्य का अध्ययन करते समय इस बात को ध्यान में रखना चाहिये। हमारा ज्ञान इस लोक के त्रिविधि विस्तार के स्तरों तक सीमित है। किंतु इस प्रकृति में क्रिया और कार्य के केवल ये ही स्तर या घाट नहीं है, प्रत्युत इनके अतिरिक्त

अन्य असंख्य घाट हैं जो कि रचना की व्यवस्था में महत्वपूर्ण काम कर रहे हैं। तदपि उनकी खबर अंतर में सहज बोध या ज्ञान प्राप्त करने की सूक्ष्म इन्द्रियों द्वारा ही पड़ती है, इन स्थूल इन्द्रियों द्वारा नहीं। उनके उल्लिखित कार्यों की खबर कभी कभी हमें अपने दृष्टयांतर्गत घाटों पर पड़ती है परन्तु अन्य घाटों के ऐसे प्रसंग इतने विरल होते हैं कि उनके आधार पर कार्य से कारण की ओर ले जाने वाले तर्क द्वारा एक शुद्ध भावना खड़ी नहीं की जा सकती। इसलिए हमें यह कहना असंगत प्रतीत नहीं होता कि उल्लिखित विस्तार-त्रय के परे के घाटों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें अपने भीतर में जो सूक्ष्म इन्द्रियाँ हैं उनको साधना चाहिए और ज्ञान प्राप्ति के लिए ये हठ नहीं करना चाहिए कि ज्ञान का प्रत्येक विषय अवश्यमेव इन त्रिविधि-विस्तार के सम तल पर लाया जावे।

भाग ४

कर्म अर्थात् मनुष्यों द्वारा किए हुए कर्म तथा उन पर घटित परिणाम

अथवा

कर्म और कर्मफल

प्रकरण १२५

रचना में दंड विधान, उससे लाभ

अनुच्छेद ४९२—पूर्व अध्याय में रचना के विषय में जो विवरण दिया है, उससे स्पष्ट है कि रचना संबंधी सम्पूर्ण विधि-विधानपुंज उपकार के उद्देश्य से निर्मित हैं। दंड विधान से भी निदान किसी क़दर जीवों का उपकार ही होता है क्योंकि दंड भोगने के पश्चात् जीवों को, रचना के जिस बड़े विभाग में उन्हें स्थान मिला है उसमें, एक विशिष्ट अंश तक,. सुरत की चढ़ाई का अधिकार प्राप्त होता है। यह कथन रचना के तीसरे बड़े विभाग के लिए तो पूरी तरह से लागू होता ही है, तदपि रचना के पहले और दूसरे बड़े विभागों की उप-सृष्टि के भाग इस व्यवस्था के चिन्हों से रहित नहीं हैं।

४९३—यों तो दंड विधान की व्यवस्था सबके लिए समान रूप से लागू है, तथापि वह मुख्य करके उन जीवों के सुधार के लिए

हैं जो उन नियमों से लाभ उठाने में असमर्थ हैं जिनके द्वारा पुरस्कार-विधान होता है। यह कहने की कहीं मुश्किल से ज़रूरत है कि वे वासनाएँ, कृत्य और अनुद्योग जिनकी रचना के बंदीखाने में रहे व दंड भोगे बिना दुरुस्ती और अंतिम भलाई नहीं हो सकती, बुद्धि के घाटे और अदूरदर्शिता के द्योतक हैं जो अतीव निंद्य बात है। पुनः ऐसा दृश्य वास्तविक कार्य क्षेत्र में अयोग्य व्यक्तियों द्वारा ही उपस्थित होता है। पर वे लोग जिनके भीतर चाहे जितनी दूरदर्शिता और समझ बूझ रहती है, इन नियमों से स्वतः को अभिज्ञ कराते हैं जिससे कि वे पुरस्कार पा सकें व दंड विधान में निर्दिष्ट दंडों से सुरक्षित रहें।

४९४—अपरंच दंड भोग की व्यवस्था से कु-प्रवृत्तियों का केवल कुछ अंश में निवारण होता है और जैसा कि कहा जा चुका है, उसके द्वारा सुरत को जिस लोक में कि वह अवस्थित है उसी में ऊंची गति प्राप्त होने का अधिकार हो सकता है। उससे ऊपर के लोक में प्रवेश पाना असंभव है, जब तक कि सुरत वहाँ से आने वाली चैतन्य धार के सीधे संपर्क व प्रभाव में न आ जावे तथा जब तक कि उस लोक में प्राप्त गति वाले या आचार्य पुरुष की सहायता सुरत को अपनी चढ़ाई के अभ्यास में न मिले। उस धार के प्रभावांतर्गत आने का साधन आध्यात्मिक शिक्षण है और उसके विधिपूर्वक बनने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि नीच प्रवृत्तियों का जिनकी दूसरे और तीसरे बड़े विभागों में प्रधानता है, पूर्ण रीति से समझ कर दमन कर लिया जावे। चूंकि यह साधना केवल मनुष्य चोले में ही सफलता पूर्वक बन सकती है (देखिये प्रकरण १११), इसलिए जो विवरण अब हम आगे देने वाले हैं, उसका संबंध मनुष्य पर उसके वातावरण और करनी का जो प्रभाव पड़ता है, उससे है।

प्रकरण १२६

जीव पर पड़ने वाले संस्कार और उनके रक्षण की रीति

अनुच्छेद ४९५—यह वर्णन करने से पहले कि कर्म कितने प्रकार के होते हैं और किन नियमों से उनका फल भविष्य में भोगना पड़ता है, हम ज्ञात करना चाहेंगे कि जीव पर अपनी परिस्थितियों

की क्या प्रतिक्रिया होती है, वे उसके हृदय में किस प्रकार अंकित होती और सुरक्षित रहती है व फिर उनके द्वारा या किसी अन्य रीति से वासनाएँ और संकल्प कैसे पैदा होते हैं।

४९६—परिस्थिति की क्रिया ज्ञान इन्द्रियों पर होती और तज्जनित उन इन्द्रियों के संस्कार की उस समय उपलब्धि होती है, परन्तु यह बात यहीं तक पूरी नहीं हो जाती। ये सब संस्कार हमारे भीतर कहीं न कहीं सुरक्षित रहते हैं, यहाँ तक कि तुच्छ से तुच्छ और अत्यंत निःसत्व संस्कार भी अंतरी लेखमाला में अंकित पाए जाते हैं। यह बात सत्य है, इसका प्रमाण संदेह रहित ऐबरक्रूम्बी की पुस्तक 'इन्टेलेक्च्युअल पॉवर्स' (मानसिक शक्तियों) में वर्णित अनेक घटनाओं से मिलता है। उनमें कई महिलाओं और भद्र पुरुषों द्वारा अज्ञात भाषा के पद्य का जो किसी समय अकस्मात कर्ण-गोचर हुए थे, स्मरण हो आना और दुहराना उल्लिखित है। चूंकि ये उल्लेखित पद्य अगम और उनके बोध से परे थे, इसलिए उनको सुनते समय अल्पातिअल्प ध्यान उस ओर गया होगा और इसलिए उनके जो संस्कार पड़े होंगे, वे भी निहायत ही हल्के व ऊपरी होंगे। तथापि सन्निपात जनित असाधारण उत्तेजना की अवस्था उत्पन्न होने पर अंतर में अंकित संस्कारों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट हुआ, तब उन छंदों की स्पष्ट रूप से याद आ गई और वे संस्कार उन पद्यों की पुनरस्मृति के केन्द्र बन गए।

४९७—ज्ञान इन्द्रियों और अंतर में मानसिक कार्यों द्वारा पड़ने वाले ऐसे सब संस्कार जिस माध्यम पर अंकित और सुरक्षित होते हैं, वह आकाश तत्व है।

प्रकरण १२७

मनाकाश, उसके कार्य

४९८—'आकाश तत्व' जिस पर कि ज्ञान इन्द्रियों द्वारा प्राप्त संस्कार अंकित होते हैं, 'मनाकाश' कहलाता है। लचीलापन या स्थिति-स्थापकत्व का जो गुण प्राकृतिक आकाश में पाया जाता है,

वही गुण-किन्तु अतिशय उच्च कोटिक-यह 'मनाकाश' भी धारण करता है। जो संस्कार 'मनाकाश' अथवा प्रकृति के साधारण आकाश पर पड़ते हैं, वे इसी स्थिति-स्थापकत्व द्वारा अपने अपने गन्तव्य स्थान को प्रेषित हो जाते हैं। प्राकृतिक हलचलें अपने केन्द्र से गन्तव्य स्थान की ओर विकीर्ण होकर प्रसारित होती हैं। विपरीत इसके यद्यपि मनाकाश में इस पूर्वोक्त धर्म की कमी नहीं है, संस्कारों की गति अभ्यन्तरमुख आत्म-बोध्य है।

४९९—मनाकाश पर संस्कार अंकित होते ही तत्काल मन को अपने चतुर्विध धर्म के कारण उनका बोध हो जाता है, परन्तु अन्य संस्कारों की ओर व दूसरी दिशाओं की ओर ध्यान हटते ही पहले वाले संस्कार की याद चेतना-पट पर धुँधली पड़ जाती और शनैः शनै स्मृतिपत्र से उतर जाती या अचेतावस्था को प्राप्त हो जाती है। किन्तु ये संस्कार इस प्रकार अदृश्य हो जाने से सर्वथा मिट नहीं जाते, वरंच मनाकाश की पुरातन लेखमाला में अप्रमत्त रूप से सुरक्षित रहते हैं। जब जब हम अपनी इच्छा या अनिच्छा से उन संस्कारों की ओर अपना पूर्ण ध्यान केन्द्रित कर उनका उपगमन करते हैं, तब वे तुरंत जाग्रत होकर उपर्युक्त रूप से याद आ जाते हैं।

प्रकरण १२८

संस्कारों के पुनःस्मृति के नियम

५००—ऐबरक्रूम्बी द्वारा वर्णन की हुई उपर्युक्त घटनाओं से दो नियम स्पष्टतया निकलते हैं, यथाः—(१) किसी व्यक्ति के मनाकाश में जो संस्कार अंकित हो जाते हैं, उनके साथ पूर्ण ध्यान का मेल या संबंध होने पर जीव उन्हीं संस्कारों की प्रकृति के अनुसार कार्य करता है, चाहे वे संस्कार अत्यन्त दुर्बल ही क्यों न हो और चाहे वे समझ में भी न आवें और कि (२) ये कार्य मनाकाश पर फिर प्रतिक्रिया करते हैं और अनुकूल परिस्थिति में अर्थात् ध्यान का उनसे पूर्ण मेल और संबंध होने पर वे फिर आगे के कार्यों के केन्द्र बन सकते हैं।

परिशिष्ट 'क'

(१९०१)

राधास्वामी मत पर एक संक्षिप्त दृष्टि

'राधास्वामी' कुल-मालिक का सच्चा नाम है। इस पवित्र नाम की व्याख्या संक्षिप्त में इस प्रकार की जा सकती है:—

यदि श्रवण शक्ति यथेष्ट रीति से बढ़ाई या विकसित की जाय तो शक्ति के सर्व प्रवाह शब्द रूप में सुने जा सकते हैं। कुल्ल मालिक ने यह रचना अपनी चैतन्य शक्ति की धारों से की है। चैतन्य शक्ति, आकर्षण, प्रेम, ज्ञान अथवा अनुभव की शक्ति को कहते हैं। अन्य शक्तियों की भाँति यह भी भंडार और उससे निःसृत धारों के रूप से रचना का कार्य करती है। चैतन्य धार का शब्द, "राधा" और चैतन्य भंडार का शब्द "स्वामी" है। इस प्रकार "राधास्वामी" कुल्ल-मालिक का सच्चा और निज नाम माना जाता है। इस नाम की धुन कुल मंडलों में अंतर के अंतर्गत हो रही है। राधास्वामी मत में बतलाए हुए अभ्यासों द्वारा सुरत की अंतर्निहित श्रवण शक्ति को जगा और बढ़ा कर राधास्वामी मतानुयायी इस शब्द को अंतर में सुन सकता है। इस नाम को स्वयं परम पुरुष राधास्वामी दयाल ने जब वे इस संसार में संत सतगुरु रूप धारण करके पधारे, प्रकट किया।

जिस प्रकार निद्रित अवस्था में विचरण करने वाले की शारीरिक और ज्ञानेन्द्रिय संबंधी सर्व क्रियाएँ ऐसे घाट से होती रहती हैं जो जाग्रत अवस्था के घाट से ऊँचा होता है, उसी प्रकार जब कुल्ल-मालिक अवतार धारण करके देह स्वरूप में पधारता है, तब उस अवतारी स्वरूप के समस्त कार्य सीधे स्वयं कुल्ल-मालिक से आने वाली धारों द्वारा होते हैं। राधास्वामी दयाल ने आगरा में अवतार लिया और सन् १८६१ ईसवी में इस मत को प्रकट किया।

चैतन्य धार की सहायता से जो अन्तर में शब्द रूप से अनुभव की जाती है, सुरत को निर्मल चैतन्य देश में जो पूर्ण मुक्ति और उद्धार का सच्चा धाम है, चढ़ाना और

पहुँचाना यही राधास्वामी मत का अभ्यास और उपासना-विधि है। इस अभ्यास और उपासना के लिये कुल्ल-मालिक के अवतार-स्वरूप संत सतगुरु की सेवा और प्रेम, परम आवश्यक हैं। बल्कि वे स्वयं अभ्यास और उपासना के ही अंग हैं।

बिना संत सतगुरु की सहायता के जिनकी गति कि ऊँचे और सूक्ष्म देशों व घाटों में है, सुरत शब्द योग का अभ्यास ठीक ठीक नहीं बन सकता। राधास्वामी मत में कोई कर्मकांड अथवा अन्य बहिर्मुख पूजा इत्यादि नहीं है। जहाँ कहीं एकान्त स्थान मिले, वहीं अभ्यास किया जाता है।

मनुष्य के वे कार्य जिनसे सुरत का सिमटाव और चढ़ाई हो, राधास्वामी मतानुसार पुण्य कर्म हैं। इसके विपरीत जिन कार्यों से उलटा नतीजा निकले यानी सुरत का नीचे मायिक देशों में उतार और बिखेर हो, पाप कर्म हैं।

सांसारिक व्यवहार के सबंध से राधास्वामी मत में यह आदेश है कि दूसरों के साथ वैसा ही बर्ताव किया जावे जैसा कि हम चाहते हैं कि दूसरे हमारे साथ करें।

यह मत पूर्णतया एक वैज्ञानिक मत है अर्थात् इस धर्म के सिद्धांत विशुद्ध वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादित किए गए हैं। जो बात सच्ची घटनाओं, प्राकृतिक नियमों और इस जगत में दृष्टिगोचर होने वाली अवस्थाओं और दशाओं से न समझाई जा सके, वह नहीं मानी जाती है। न अंध-विश्वास या जन-श्रुति के रूप में ही कोई बात मानी जाती है। मत के सिद्धांतों को केवल बुद्धि से समझ लेना ही ध्येय नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक साधनों और अभ्यासों से अनुभव प्राप्त करके उनकी सत्यता और यथार्थता में विश्वास उत्पन्न हो, इस पर अधिक ज़ोर दिया जाता है। राधास्वामी मत के साधक और अभ्यासी में जब तक इतनी योग्यता न आ जावे कि उसकी सुरत अपनी मर्ज़ी से जब चाहे तब शरीर छोड़ कर ऊँचे से ऊँचे चैतन्य देश में पहुँच जाय तब तक उसका अभ्यास और उसकी साधना पूरी हुई नहीं समझी जाती और न उद्देश्य की पूर्ति हुई।

राधास्वामी मतानुसार रचना के तीन बड़े विभाग हैं। सबसे ऊँचा निर्मल चैतन्य देश है जिसको "दयाल देश" अथवा दया का धाम कहते हैं। दूसरा चैतन्य और माया की मिलौनी का देश है जिसमें चैतन्य प्रधान है और माया उसके साथ बहुत सूक्ष्म और शुद्ध रूप में मिली हुई है। यह ब्रह्मांड अथवा ब्रह्मांडी मन का देश कहलाता है। तीसरा या सबसे नीचे का देश माया और चैतन्य की मिलौनी का देश है जिसको पिंड अथवा पिंडी मन और इच्छा का देश कहते हैं। इस विभाग में माया का रूप स्थूल हो गया है और वह सुरत चैतन्य पर हावी अर्थात् प्रधान हो रही है। सुरत चैतन्य की कार्रवाई इस

देश में कम और कमज़ोर है। बिना मायक आवरणों के वह प्रकट नहीं होती। प्रत्येक बड़े विभाग में छः छः उप-विभाग हैं। मनुष्य शरीर की रचना भी इन्हीं के अनुरूप हुई है इसीलिये मनुष्य शरीर को सारी रचना का छोटे पैमाने पर नमूना कहा जाता है। सबसे नीचे के देश अर्थात् पिंड देश के छः उप-विभाग मनुष्य चोले में पाए जाने वाले छः चक्रों या छः वात केन्द्रों में अंकित हैं। सबसे नीचे गुदा चक्र है और सबसे ऊपर का चक्र नाक की जड़ में दोनों आँखों के मध्य में स्थित है। यहाँ भिन्न भिन्न केन्द्रों से निकली हुई नाड़ियाँ मिलती हैं। इसको छठा चक्र कहते हैं। शेष चार चक्र कंठ, हृदय, नाभि और जननेन्द्रिय में अवस्थित हैं। इसी प्रकार के चक्र या कँवल ब्रह्मांड में भी हैं और पिंड के चक्र इनके प्रतिबिंब हैं। ये छः कँवल मस्तिष्क के भूरे द्रव्य में हैं जो ब्रह्मांड के छः उपविभागों से संबंध रखते हैं। निर्मल चैतन्य देश का संबंध मस्तिष्क के सफ़ेद द्रव्य से है जिसमें छः केन्द्र या पदम बने हुए हैं जो दयाल देश के छः उपविभागों से संबंधित हैं। निर्मल चैतन्य देश का छठा या सबसे ऊँचा स्थान सच्चे कुल्ल-मालिक राधास्वामी दयाल का धाम है।

राधास्वामी मत में जात-पाँत का भेद नहीं है। राधास्वामी मत में प्रवेश पाने के लिए केवल यही शर्तें हैं कि गोश्त, शराब और अन्य नशे की चीज़ों से परहेज किया जाय और यह दृढ़ विश्वास पैदा हो कि सत्य व पूर्ण उद्धार केवल राधास्वामी धाम में पहुँच कर ही होगा।

माँस खाने से बहिर्मुख प्रवृति और शक्ति उत्पन्न होती है जो सुरत के अंतर में सिमटने व चढ़ने में बाधक है। अंतर में सिमटाव और चढ़ाई के लिए मन के गुनावनों और बाहरमुखी प्रवृतियों का शमन करना आवश्यक है।

नशे की चीज़ों का रगों और नाड़ियों पर बुरा असर पड़ता है और निश्चलता तथा निर्मलता जो राधास्वामी मत के अभ्यास के उचित रीति से बनने के लिए ज़रूरी है, जाती रहती है।

समस्त प्रचलित धर्मों के सिद्धांत पद ब्रह्मांड के अंतर्गत ही स्थित हैं अर्थात् चैतन्य और माया की मिलौनी के देश में ही हैं जो नाश और लय होने वाले हैं क्योंकि माया परिवर्तनशील है और जिन स्थानों या मंडलों में माया मौजूद है, चाहे वह कितने ही सूक्ष्म क्यों न हों, उनका देर सबेर ज़रूर अभाव और नाश होता है।

किसी भी प्रचलित धर्म में इन सिद्धांत पदों अथवा स्थानों और मंडलों का स्पष्ट रूप से वर्णन नहीं किया गया है। उनकी धर्म पुस्तकों में केवल संकेत और इशारे मिलते

हैं। अंतर के भेद से जो परिचित है वा अंतर का भेद जिसको प्राप्त हुआ है, वही उन संकेतों को समझ सकता है और वही जानता है कि किस मत और धर्म का सिद्धांत पद कहाँ है। किंतु ऐसे भेदी यदि हैं भी तो बहुत दुलर्भ हैं। वर्तमान समय में केवल राधास्वामी मतानुयायी ही अन्य मतों और मज़हबों की भी भेद भरी बातों और उपदेशों को समझ सकते हैं और प्रत्येक मत और मज़हब की गति और पहुँच के विषय में ठीक ठीक अनुमान कर सकते हैं। अन्य मतावलम्बी अपने मतों या मज़हबों के सिद्धांत पद का ही ज्ञान नहीं रखते और न ही दूसरे मतों और मज़हबों का तुलनात्मक दृष्टि से महत्व या मूल्य जानते हैं। विभिन्न धर्मों के सिद्धान्त पद और उनकी गति इत्यादि बातों को स्पष्ट रूप से समझना भी राधास्वामी मत के उपदेशों का एक अंग है। इस उद्देश्य से राधास्वामी मत के पवित्र ग्रंथों में अन्य मतों के सिद्धांतों का थोड़ा विवरण और उनका मूल्यांकन भी दिया गया है।

राधास्वामी मतानुयायी आवागमन के सिद्धांत को मानते हैं जिसके अनुसार जीव के इस संसार में कर्म करने से जो शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं उनके चिन्ह उसके सूक्ष्म अथवा आकाशीय शरीर पर अंकित हो जाते हैं और वे मृत्यु होने पर जीव के साथ जाते हैं। उन्हीं के अनुकूल उसको आगे जन्म धारण करना पड़ता है।

परिशिष्ट 'ख'
(१९०२)
राधास्वामी मत का संक्षिप्त विवरण

राधास्वामी मत के संस्थापक स्वयं कुल्ल-मालिक राधास्वामी दयाल के अवतार थे। आपने सन् १८१८ ई. में आगरा के एक प्रतिष्ठित और प्राचीन खत्री कुल में जन्म लिया। आपका नाम शिवदयाल सिंह था। बचपन से ही आप राधास्वामी मत का अभ्यास करते थे। आपकी असाधारण पवित्रता और धार्मिकता का उन सब लोगों के मन और सुरत पर बड़ा प्रभाव पड़ता था जो आपके संपर्क में आते थे। आपने सन् १८६१ ई. में राधास्वामी मत को प्रकाशित किया, यद्यपि इससे पूर्व कोई कोई महिलाओं ने आपसे राधास्वामी मत की दीक्षा और उपदेश ले लिया था। दिन में कई बार आपके निवास स्थान पर नियमित रूप से राधास्वामी मत के अनुयायियों का सतसंग होता था। जून सन् १८७८ ई. में आप निज धाम सिधारे। राधास्वामी मत पर आपके दो ग्रन्थ हिन्दी भाषा में हैं, एक गद्य में और दूसरा पद्य में।

आपके अंतर्द्धान होने के कुछ समय पश्चात् आपके प्रधान शिष्य राय सालिग्राम साहब बहादुर ने जिनकी अलौकिक और अनन्य गुरु भक्ति के प्रभाव से बहुत लोग उनकी ओर आकर्षित हुए थे, आपका स्थान लिया। राय सालिग्राम साहब बहादुर के समय में यह मत बहुत फैला। हर श्रेणी और जाति के मनुष्य, विशेषकर शिक्षित वर्ग के लोगों ने राधास्वामी मत के सिद्धांतों को स्वीकार किया । राय सालिग्राम साहब बहादुर ने इस धर्म के सिद्धांतों पर पद्य और गद्य में अनेक पुस्तकें लिखी हैं जिनमें से कुछ में मत का वैज्ञानिक रीति से प्रतिपादन किया गया है। यह सब पुस्तकें हिन्दी में हैं, पर एक छोटी पुस्तक अंग्रेज़ी में भी है।

हर प्रकार के दुख से रहित, अमर और परम आनन्द की अवस्था प्राप्त करना उद्धार है। परम पुरुष कुल्ल मालिक राधास्वामी दयाल के धाम यानी निर्मल सुरत चैतन्य के देश में जहाँ मन और माया का लेश मात्र भी चिन्ह नहीं है, पहुँचने से ही यह अवस्था प्राप्त हो सकती है। चैतन्य शक्ति ही परम श्रेष्ठ शक्ति है जिससे कुल रचना उत्पन्न हुई। प्रेम, आकर्षण, रचनात्मक क्रिया, अमरत्व, ज्ञान और आनन्द इसके गुण हैं। प्राणियों में चैतन्य शक्ति, तवज्जह की धार के रूप में भी अपना प्रकटन करती है। माया अर्थात् द्रव्य या माद्दा, जड़ और चेष्टा रहित है जो प्रारंभ में परमाणु अवस्था में था अथवा अस्त व्यस्त अर्थात् बेतरतीब और बे-सिलसिला हालत में था। उस पर सुरत चैतन्य की क्रिया या असर होने से मायिक देश के सब रूप पैदा हुए हैं। मायिक अर्थात् जड़ पदार्थों से संपर्क होने पर जो अवस्था उत्पन्न होती है, उसमें दुख होता है जिसका अनुभव जीव को इस रूप में होता है कि कायिक या मानसिक घाट पर सुरत चैतन्य की धारें जो व्याप्त हो रही थीं वहाँ से वह ज़बरदस्ती हटा दी गईं।

बिना केन्द्र या भंडार के शक्ति विद्यमान नहीं रह सकती। चैतन्य शक्ति के धार-भंडार अथवा न्यूनाधिक भाव से ही निर्मल चैतन्य देश और मायक देश पृथक हो गए अर्थात् निर्मल चैतन्य देश एक सिरे पर और मायक देश दूसरे पर। मायक देश की पृथक स्थिति होने का यह अभिप्राय है कि उस प्रांत का द्रव्य या माद्दा स्थानीय अथवा एकदेशिक क्रिया के अधीन है। रचना का मायक ध्रुव भी इस प्रकार चैतन्य शक्ति की क्रिया के अधीन है। तदनुसार रचना के तीन बड़े विभाग हैं—(१) निर्मल चैतन्य देश (२) चैतन्य और शुद्ध माया देश और (३) चैतन्य और मलीन माया देश। इन तीनों विभागों में से प्रत्येक के छः छः उपविभाग हैं। सब जीव सुरतें चैतन्य सिंध अथवा सूर्य की किरणें हैं। इसलिये जब वह प्राणि जगत में देह धारण करतीं हैं तो उनमें भी वैसे ही विभाग और उपविभाग बन जाते हैं। मनुष्य में जो कि सचेतन जीव का अत्यन्त

विकसित रूप है, ये विभाग और उपविभाग सबसे अधिक प्रकट अवस्था में पाए जाते हैं। दिमाग़ का सफेद माद्दा निर्मल चैतन्य देश से संबंध रखता है और उसमें छः उपविभाग (पदम) हैं। दिमाग़ के भूरे माद्दे का संबंध रचना के दूसरे बड़े विभाग अर्थात् ब्रह्मांड से है और उसमें भी छः उपविभाग (कँवल) बने हुए हैं। षटम चक्र से गुदा चक्र तक रचना के तीसरे बड़े विभाग यानी पिंड देश के छः उपविभाग (चक्र) ये हैं:— (१) दोनों आँखों के मध्य नाक की जड़ में, (२) कंठ में, (३) हृदय में, (४) नाभि में, (५) इन्द्री में और (६) गुदा में। मनुष्य की सुरत की बैठक या केन्द्र, दोनों आँखों के मध्य नाक की जड़ में है। यदि जीव की वृत्तियों और क्रियाओं का झुकाव उसकी बैठक के स्थान से नीचे की ओर हो तो उसका उतार नीचे के लोकों में या नरकों में हो जावेगा और यदि उसका झुकाव उसकी बैठक के स्थान से ऊपर की ओर हो तो सुरत की चढ़ाई विशेष आनन्द और सुख के धामों में और अंत में निर्मल चैतन्य देशों में होगी। राधास्वामी मत का अभ्यास यह है कि रचना के ऊपर के मंडलों से जो चैतन्य की धार आ रही है, उसके आकर्षण द्वारा सुरत को उसकी बैठक के स्थान से ऊपर के देशों और मंडलों में चढ़ाया जावे।

हर प्रकार की शक्ति-धार यदि किसी ऐसे यंत्र पर पड़े जो श्रवण इन्द्रिय की तरह काफी सूक्ष्म ग्राही हो तो वह शब्द रूप में अनुभव की जा सकती है। अतः उपरोक्त अभ्यास वा साधना विधि में चैतन्य शक्ति की धार, शब्द रूप में अनुभव की जाती है और इस अभ्यास को पारिभाषिक शब्दों में सुरत शब्द योग कहते हैं। लेकिन इस अभ्यास के दुरुस्ती से बनने और उसमें सफलता प्राप्त होने के लिए किसी ऐसी महान सुरत या पुरुष की सहायता की आवश्यकता है जो इस अभ्यास द्वारा निर्मल चैतन्य देश पहुँचे हों अथवा निर्मल चैतन्य देश से सीधे, वहाँ की सर्व शक्तियों से सम्पन्न, यहाँ पधारे हों। ऐसे महान् पुरुष को सच्चे गुरु और पथ प्रदर्शक यानी सतगुरु कहते हैं। जो महान् पुरुष जिस देश से आते हैं अथवा जिस देश तक की गति प्राप्त कर चुके हैं, वह उस देश के धनी का अवतार कहलाते हैं क्योंकि उनकी सब कार्रवाईयाँ ठीक उस धनी की प्रेरणा से उसी प्रकार होती हैं जिस प्रकार कि मानसिक बल से परोक्ष घटनाओं को देखने अथवा निद्रा में विचरण करने की दशा में सर्व क्रियाएँ साधारण प्रकृत अवस्था के घाट से भिन्न घाट की इन्द्रिय शक्तियों द्वारा की जाती हैं। विभिन्न ऊँचे देशों के शब्दों के यहाँ की बोली में जो रूप हैं, उनका मन और सुरत द्वारा जाप करना भी ज़रूरी है। यही सु-उच्चारित नाम उन देशों के धनियों के असली या सच्चे नाम अथवा मन्त्र हैं। इस प्रकार कुल्ल-कर्त्तार या निर्मल चैतन्य देश के धनी कुल्ल-मालिक का सच्चा और निज

नाम या मन्त्र 'राधास्वामी' है। भंडार और उससे निकलने वाली चैतन्य शक्ति की प्रथम धार या लहर से रचना उत्पन्न हुई है। इसलिये सच्चा कर्त्तार वही चैतन्यता का अनंत और अपार सिंध और उससे निःसृत प्रथम धार है। धार के साथ होने वाले शब्द को यहाँ की बोली में कहा जाय तो 'राधा' और आकर्षण के सिंध का शब्द 'स्वामी' है। 'राधास्वामी' कुल्ल-कर्त्तार का सच्चा और निज नाम है। इस कारण, सच्चे गुरू के चरणों में सच्चा और निष्कपट प्रेम पैदा करने तथा उनकी सेवा करने और उनके बचन बानी सुनने और मनन करने पर बड़ा ज़ोर दिया जाता है। संत सतगुरु जो कि देह स्वरूप में स्वयं परम पुरुष के अवतार हैं, उनके आकार का चितवन या ध्यान राधास्वामी मत का एक मुख्य साधन और अभ्यास है।

दूसरों के साथ किस प्रकार का बरताव करना चाहिये, इस विषय में राधास्वामी मत में यह उपदेश है कि हमको किसी के साथ ऐसा बरताव न करना चाहिए जैसा कि हम नहीं चाहते कि दूसरे हमारे साथ करें। पर असली धर्म यह है कि सुरत की ऊँचे देशों में चढ़ाई हो। नीचे देशों में सुरत का उतार होना अधर्म है। इसलिये वह कृत्य जिनसे सुरत चैतन्य की उन्नति हो, पुण्य कार्य हैं और जिनसे सुरत चैतन्य की अवनति हो, पाप कर्म हैं। राधास्वामी मत का अभ्यास बनने के लिए मांसाहार और मादक वस्तुओं का परित्याग करना परम् आवश्यक है। माँसाहार से तीव्र बहिर्मुख कार्य-शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिससे मन में निश्चलता नहीं आने पाती जो सुरत के सिमटाव और चढ़ाई के अभ्यास के लिए ज़रूरी है। नशीली चीज़ों का नाड़ियों पर असर पड़ने से सुरत चैतन्य की धार के वहन में विकार उत्पन्न हो जाता है। इसलिए वे भक्ति और अभ्यास में हानिकारक हैं।

राधास्वामी मत में बाहरी कर्म और संस्कार-विधि नहीं है, किंतु सतगुरु द्वारा प्रयोग में लाई हुई कोई भी वस्तु अत्यन्त पवित्र मानी जाती है। यही कारण है कि उनके पहने हुए वस्त्र या उनका उच्छिष्ट या उनका चरणामृत या उनके पहने हुए हार का सतसंगियों की दृष्टि में बड़ा महत्व है और वे उन पवित्र वस्तुओं को बड़े उत्साह से अपने उपयोग में लाते हैं। सतगुरु के नेत्रों को टकटकी बाँध कर देखने की विधि जब कि राधास्वामी दयाल के चरनों में भक्ति और प्रेम के तथा सुरत की ऊँचे देशों में चढ़ाई के या वहाँ के आनन्द के शब्दों का पाठ होता है, 'आरती' कहलाती है। सुरत के सिमटाव और चढ़ाई में यह बहुत लाभदायक समझी जाती है।

परिशिष्ट 'ग'

राधास्वामी मत पर एक संक्षिप्त लेख

राधास्वामी मत का उद्देश्य यह है कि सुरत यानी जीवात्मा निर्मल चैतन्य देश में जहाँ किसी प्रकार का दुःख व परिवर्तन नहीं है, पहुँच कर अमर और परम आनंद प्राप्त करे। उक्त उद्देश्य की प्राप्ति का अभ्यास घट में ही किया जाता है क्योंकि मनुष्य चोला कुल रचना का छोटे पैमाने पर नमूना है। उसका रास्ता वही है जो सचेतन जीव जाग्रत से स्वप्न, गहरी नींद, अर्द्ध मूर्च्छा और मृत्यु की अवस्थाओं में पार करता है। मगर उक्त अभ्यास सुरत की बैठक के स्थान से आरम्भ होता है। सुरत की बैठक छठे चक्र में है जहाँ नाक, कान, आँख आदि की रगों में प्रवाह होने वाली चैतन्य की धारें मिलती हैं। मार्ग ऊपर की ओर दिमाग़ के भूरे और सफेद द्रव्य या मादे में है। ये मादे क्रमशः ब्रह्मांड देश और निर्मल चैतन्य देश से संबंध रखते हैं।भौतिक शरीर का संबंध भौतिक जगत या देश से है। सुरत को ऊपर के देशों में चढ़ाने के तीन अभ्यास हैं जो नीचे लिखे जाते हैं:—

(१) पवित्र नाम 'राधास्वामी' का अंतर में सुमिरन—इस नाम का कृष्ण से कोई संबंध नहीं है। यह नाम उस चैतन्य भंडार और चैतन्य धार के साथ होने वाले शब्द का वर्णमय रूप है जिसके द्वारा कुल्ल कर्त्तार ने सारी रचना पैदा की। सुर से सुर मिल कर एक-सुर हो जाने के सिद्धांत के अनुसार इस पवित्र नाम के सुमिरन से सुरत चैतन्य का उसके भंडार से संबंध स्थापित हो जाता है और इस भांति अभ्यासी को ऊपर के देशों में गति प्राप्त करने में सहायता मिलती है।

(२) गतिवान पुरुष या सच्चे गुरू की अंतरी और बाहरी सहायता—निर्मल चैतन्य देश की गति वाले पुरुष को सच्चा गुरू अथवा सतगुरु और मुरशिद कामिल कहते हैं। रचना के अनेक विभिन्न मंडलों में उनकी गति होने के कारण वह उस व्यक्ति को जिसने राधास्वामी मत का अभ्यास शुरू किया हो, अंतर में मदद पहुँचा सकते हैं। उनकी बाहरी मदद और असर भी अभ्यासी के लिए बड़ा लाभदायक है क्योंकि उनकी देह अत्यन्त चैतन्यमय होती है।

(३) सुरत का अंतर के चैतन्य शब्द के साथ सम्बन्ध स्थापित करना—ऊपर के अभ्यासों से श्रवण शक्ति अच्छी तरह बढ़ जाने और सूक्ष्मग्राही हो जाने पर चैतन्य धार जो रचना में मौजूद है, शब्द रूप में

सुनी जाती है। सुरत का शब्द के साथ संबंध स्थापित करने की रीति यह है कि पूर्ण सावधानता और पूरी तवज्जह से सुरत चैतन्य की धार या ज्ञानवाह धार के साथ होने वाले शब्द को सुना जावे। सुरत चैतन्य की धार या ज्ञानवाह धार का मस्तिष्क से प्रवाह हो रहा है और उसका रुख यानी उसकी दिशा अंदर और ऊपर की ओर है। गतिवाह धार (यानी काल और माया की धार) के साथ भी अंतर में शब्द हो रहे हैं मगर उनको सुनना न चाहिए क्योंकि उनका रुख बाहर और नीचे की तरफ़ है।

काम क्रोध आदि अनेक प्रकार के विकारों में बर्तने से चैतन्य का बाहर बिखेर होता है जिससे सुरत का नीचे मायक देशों में उतार हो जाता है। इसलिये उन विकारों से सावधानी से बचना परम आवश्यक है।

दीनता, सहनशीलता, धैर्य और अन्य सात्विक गुणों में बर्तने से चैतन्य शक्ति जिसका रुख अंदर की ओर है, जागती है। इन सात्विक गुणों से मन का दमन होता है और बहिर्मुख कार्रवाइयों पर रोक लगती है। इसलिए राधास्वामी मत के अनुयायी को खूब चेता कर आज्ञा दी जाती है कि हर हालत में इन सात्विक गुणों में बर्तने की यथाशक्ति चेष्ठा करे।

राधास्वामी मत में सार्वजनिक रूप से प्रचार नहीं किया जाता। राधास्वामी मतानुयायियों को हिदायत की जाती है कि सिवा सच्चे जिज्ञासुओं के तथा उनके जिनमें मत समझने की काफी योग्यता हो, अन्य किसी के साथ मत के गूढ़ सिद्धांतों की चरचा न करें।

परिशिष्ट 'घ'

विषयानुक्रमणिका

(संख्यायें अनुच्छेदों की है)

अ

अंडज ३८२

अंडाकार २४२

अंतःकरण के चार अंग ५५

अगम पुरुष ३००, ३०२, ३०४

अग्नि तत्त्व ३८, ३९, ४१, ३२९, ३३०, ३४५, ३५०, ३५२, ३५९, ४२६

अनुसंधान की नई प्रवृत्ति १५१, ४६६

अभ्यास की ठीक ठीक विधियाँ गुप्त रक्खी जाती हैं २५७

अभ्यास से चेतनता बढ़ती है ९४

अभ्यासी गतिवान पुरुषों के न रहने से अंतर की चाल बंद हो गई १४९, १५४, १७५

अर्द्ध मूर्च्छा—देखिए 'लय अवस्था'

अवतारों १४२—१६२

और पैग़म्बरों का सिद्धांत पद ब्रह्मांड में था, इसका प्रमाण १५६

और पैग़म्बरों की आदि १५२

का होना अमित उपकार का हेतु है १४६

की तुलना समुद्र के ज्वार भाटे से की जा सकती है १४४—१४५

की व्याख्या १४२-१४५, १५९

के आने से पहले कुछ भेद पेशगी खोलना १६०
के होने की आवश्यकता, उद्देश्य और फायदे १४६
द्वारा ही सर्व परमार्थी ज्ञान प्रकट हुआ है १४८-१५०
अवधान की एकाग्रता १८
अव्याकृत ६९
अष्टदल कँवल ३३२
असाधारण आध्यात्मिक करामातें ४६६
असीम शक्तिवान तेजोमय पुरुष का नर पंजर में आना १४२
अहंभाव १७२
अक्षर पुरुष ६८, ३१७, ३१९

आ

आंतरिक अनुभव भ्रम नहीं है २७७-२८०
आकस्मिक घटनाएँ और संजोग १३८-१३९
आकाश तत्त्व ३४, ३६, ३९, ३२९, ३३०, ३४५, ३४८, ३४९, ३८१, ४२६, ४९७
आकाशवत् सर्व व्यापक रूप का ध्यान करना, निर्मल चैतन्य स्वरूप का ध्यान नहीं है १०९
आकाश सर्वत्र व्यापक नहीं है ३६
आचार्यों—
का भास ही साधारण कार्रवाइयों के लिए काफ़ी है १४३
की अलौकिक शक्तियाँ १२५-१२७, १३४
की श्रेणियाँ ११२-११४, १२३-१२४
द्वारा करामातें या चमत्कार दिखलाने का उद्देश्य १३६
आत्म पद या ध्रुव ३१९
आदि धार निकलने—
का कारण ३०१
से पहले आदि भंडार में वेग उठा २८७
आदि रूप २४१-२४२
आदि शक्ति में ध्रुवों का विभेदन २६६

आद्या ३११, ३१३, ३१५, ३१६, ३१८, ३२०, ३२२, ३७७, ४३५,
आध्यात्मिक अभ्यास के तरीके १०२, १०७, १११, ११६-१२२, १६५, १९९-२०६, २०९, २४८, २४९, २५१-२५७
आध्यात्मिक ध्यान १११, ११५-१२१, २५१-२५४
आनंद —
अत्यानंद अवस्था का चित्रण ४८-४९
परम आनंद की अवस्था २२
आपा और अहं भाव ५५, १७१-१७२
आरती की रीति १८६-१८७
आवागवन ४४२, ४४५, ४४९

इ

इच्छा और मन ३८६
इड़ा ३३८
इन्टरेगमन या मध्यवर्ती अवकाश १७६, २५५-२५६
इन्द्रियाँ ३४३, ३४५, ३५०-३५४, ३६०-३६१, ३६४, ३६७, ३७०, ३७१ उ ४७९

उ

उद्भिज ३८२
उपदेश या दीक्षा की शर्तें २५८

ऊ

ऊपर के ध्रुव की रूप रेखा २७२-२७३, २८१, ४७२-४७३
ऊर्ध्वगामिनी धार ४०४-४०५, ४१४, ४३९

ओ

ओम् शब्द २१७

क

कबीर साहब का—
'राधास्वामी' नाम की ओर संकेत २४८-२४९
सतसंग की महिमा में एक कड़ी कहना १८०

हुजूरी हुक्मों को सुनाने के लिए अगवानी स्वरूप आना १६१
करामातें—देखिए 'चमत्कार'
कर्म और कर्मफल ४९२-५००
कलियुग ४५७, ४६२-४६८
कक्षीय परिक्रमा ३७५-३७६, ४०२-४०३, ४२७
कारन रूप या शरीर ६९, ३९३
काल ३११-३१६, ३१८, ३२०, ३२२, ३७७, ४३५
काल पुरुष ४३४
कुल्ल-मालिक—
का स्वरूप २८१, ४८१
के अवतार ४१४-४१५
के बनाए हुए क़ायदे क़ानून सर्व अंगों में पूर्ण और निर्दोष हैं १२८-१२९
को सब की ख़बर है २८३
में शाश्वत् ध्रुवीकरण २६७
सर्वप्रकाशमय है २७२, २७३
कृष्णावतार ४६०
केवल धर्म ग्रन्थों का पढ़ना काफ़ी नहीं है १६९-१७०
कैलाश ३२२

ख

खोज और अनुसंधान की नई प्रवृत्ति १५१
ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती का 'नाम' की महिमा में शैर २०६

ग

गणेश ८२
गतिवान पुरुषों—
और अवतारों में भेद १४१
की प्रतिष्ठा में हानि १३७
की श्रेणियाँ ११२-११४, १२३-१२४

के न रहने से अंतर की चाल बंद हो गई
१४९, १५४, १७४-१७६
गतिवाह धार ५९-६०
ग़िलाफों का झड़ कर नीचे गिरना २९७-२९८, ३२३, ३३०
गुण ७१-७३, ३२७
ग्रह ३८७

घ

घंटे की आवाज की नक़ल २३२

च

चंद्र ३०२, ३३९, ३९०
चंद्र स्थान ३८७, ३९०, ४४०
चमत्कारों—
के अधिक प्रचलित रूप १३८-१३९
के दिखलाने का उद्देश्य १३६
के लक्षण १२६-१२७
चरण २६८
चरणामृत १८३-१९४
चार खान ३८२
चार युग ४५७-४६१
चित्त—
की एकाग्रता १८
की एकाग्रता के दृष्टांत १८
चुम्बक शक्ति २१५, २३६
चेहरे पर—
अंकित भावों को देख कर देखने वाले में भी वैसे ही भाव उत्पन्न होते हैं १११
मन के सर्व भावों का प्रतिबिंब पड़ता है ६१, ११०

चैतन्य शक्ति—
का तथाकथित प्राकृतिक शक्तियों से भिन्नत्व ३०-४०
का भी रचना में कोई आधार स्वरूप भंडार या स्रोत है ३१-३३
का विकास २३-२४
का व्यायाम २३
का स्वरूप २११-२१५
के परिचायक चिन्ह २११-२१५
को जगाना व बढ़ाना ९६-९७
को प्रयोग में लाने के नियम १३३
बग़ैर मन की मदद के काम कर सकती है ७५-७६
से बिल्कुल ख़ाली कोई नहीं २६९
चैतन्य शब्द—
अंतरमुख है १०७
की व्याख्या १०३
को श्रवण करने का अभ्यास १०७
चैतन्य समाधि ४२९, ४३२
चैतन्य स्वरूप का ध्यान ११८
चौरासी ३७९-३८०
चौरासी का चक्र ४०५

ज

जड़ चेतन ३८८
जन्म से पहले सुरतों की अवस्था ४२८-४३३
जल तत्व ३२९-३३०, ३८२
जीव—
की तीन अवस्थाएँ ६९
के तीन रूप ६९
पर पड़ने वाले संस्कार और उनके रक्षण की रीति ४९५-४९७

जीवन की चार अवस्थाएँ ४५०-४५५
जीवन की चार अवस्थाओं का रचना में सादृश्य ४५६
जीवाणुवाद ३४
जीवित रहने के परम आवश्यक गुण ९८-१०२
जीवों की पृथ्वी पर यात्रा ४२५-४२७
जेरज ३८२
ज्योति ४३६
ज्योति नारायण (या निरंजन) ३२५, ३३४, ३८६

त

तत्व—
पाँच तत्व ४१
पाँच तत्वों की अत्यन्त सूक्ष्म अवस्थाएँ ४१, ३२८
पाँच तत्वों की पाँच पृथक २ धारें ३३०, ३८८
पाँच तत्वों की भावना ३५७
तन्मात्रा ३४४-३४५, ३५६
तारे ३३९, ३८३
तीन गुण ७१, ७३
तीसरा तिल ३७३, ४३५-४३६
तुलसीदासजी की चौपाई 'नाम' की महिमा में २०७
तेजस ६९

द

दंड विधान और उससे लाभ ४९२-४९४
दया के परचे १३९
दीक्षा या उपदेश २५७-२५८
दुख—
की परिभाषा १६
मानसिक दुख ११, १५
शारीरिक दुख ११

दुख सुख २
दुनिया को माँगने वाले अभागे हैं १४०
देवदूत या पैग़म्बर और अवतार द्वारा ही सर्व परमार्थी ज्ञान प्रकट हुआ है १४८-१५०
देह रहित रूहें २६-२९, ३४
दो ध्रुव २६८-२७१
द्रव्यों—
का अंतर्निहित विशिष्ट ताप ३१-३३
में ठोस अवस्था से विद्युत्कण अवस्था में पहुँचते पहुँचते होने वाली तब्दीलियाँ १५५
द्वापर युग ४५७, ४६०

ध

धर्म—
का उद्देश्य २-४, ५१
का लक्ष्य ३-४
के प्रति बे-परवाही का कारण १
धर्मराय ४३५-४३६
धार और भंडार २१२, २१५, २२५
धार और भंडार के शब्दों का पृथकत्व २१६-२२३
धुंधुकार २७६, २८३
ध्यान का अभ्यास १११, ११५-१२२, २५०-२५६
ध्यान की एकाग्रता १९
ध्रुव विभाजन या विभेदन २६५-२६६
ध्रुवीकरण २६६-२६७, २७०

न

नरक ३९७, ४००
नानक साहब की एक साखी, सच्चे गुरु की व्याख्या में १६३
नाम २०८
नाम की महिमा में—

ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती का शैर २०६
तुलसीदासजी की चौपाई २०७
नित्यता प्राप्त वायु ३५६
निम्नगामी धार ४१९-४२१, ४२५, ४५९
निम्न ध्रुव २६६
निम्न ध्रुव की दशा ४७२, ४७६
निम्न ध्रुव की रूप रेखा २७४-२७६, २८२, २८३
निम्न श्रेणी के जीवों की मृत्यु क्रिया ४३८
निरंजन ६८
निर्मल चैतन्य देश ७५, ७६, ४०१
निर्मल चैतन्य देश के छः उप विभाग ७५-७६, २८९-२९५
निर्मल चैतन्य देश के वासी २९६-२९९, ३४०, ४११, ४२८, ४४५, ४८२
नेति ६६

प

पच्चीस प्रकृतियाँ ३३१
परम आनन्द की अवस्था २२
परम पुरुष की चैतन्य किरणें रचना में हर जगह मौजूद हैं ५०
परम पुरुष के स्व-लक्षण २८१
परम पुरुष में शाश्वत् ध्रुवीकरण २६७
परम संत ११४
परम हंस २९८
परमाणु ३२३, ३४२, ३४९
परमार्थ—
का अंतिम लक्ष्य ५
की तरफ से बे-परवाही का कारण १
परशाद १८१-१९४
परिक्रमा—देखिए कक्षीय परिक्रमा

पशुपति ४३८
पहुँचे हुए पुरुषों की श्रेणियाँ ,११२-११४, १२३-१२४
पाँच तत्त्व—देखिए 'तत्त्व'
पाँचवाँ उप विभाग उत्पत्ति की क्रिया से सम्पन्न होता है ३१०
पारब्रह्म पद ६३, ६६-६७
पिंगला ३३८
पिंड—
के अधिवासी ३८२, ३८९-३९८, ४१२, ४१६, ४२५, ४३३, ४६१, ४८७
के छः उपविभाग और उनके धनी ५६-५८, ३८५-३८८
के छः चक्रों और ब्रह्मांड के छः कँवलों में अनुरूपता ६१-७४
पिंडी मन और इच्छा ३८६, ४३४
पुरुष—
और प्रकृति ३१८
और स्त्री का भेद २८८, २९९, ३१०-३११, ३४१, ४५०
का चरण २६८
का मस्तक २६८
पृथ्वी—
तत्त्व ३२९-३३०, ३८२
पर मनुष्य और मनुष्येतर जाति के जीवों की यात्रा ४२५-४२७
लोक ३८७
प्रकृति—देखिए पुरुष
प्रकृतियाँ—देखिए 'पच्चीस प्रकृतियाँ'
प्रतिभावान पुरुषों के ऊपर से इस पृथ्वी पर पधारने से ही सर्व प्रकार के ज्ञान प्रकट हुए हैं १४७
प्रत्येक शक्ति का रचना में आधार स्वरूप निज का भंडार है ३०-३२
प्रत्येक शक्ति के साथ २ बड़े घोर शब्द हो रहे हैं १०३

प्रत्येक शब्द में कमोबेश उस शक्ति के गुण मौजूद रहते हैं जिससे कि वह पैदा होता है १०४-१०६

प्रथम धार २८६-२८७

प्रथम भंडार और उसका रूप २४२

प्रलय ४०९

प्राकृतिक शक्तियों—

और सुरत चैतन्य की शक्ति में द्वन्द ४४१

का अस्तित्व सुरत चैतन्य की शक्ति पर निर्भर है ४६

का अपने वर्तमान स्वरूपों के लिए अपने अपने माध्यमों पर निर्भर होना ३०-४०

प्राण ३३७

प्राज्ञ ६९

प्रेतात्माएँ २६-२९, ३४, १६८, ३९४-३९५

फ

फलित ज्योतिष का चंद्र ३८८

ब

बंकनाल ३२६

बाँसरी की आवाज़ की नक़ल २३१

बाज़ीगरी और आचार्यों द्वारा प्रकट किए गए चमत्कारों में भेद १३५

बाहर रचना में जो धारें काम कर रही हैं, वे मनुष्य शरीर में मौजूद हैं १९९

बिजली ३६, १५८, ३५१, ३८८

बिराट ६९

बुराक़ घोड़ा १५७-१५८

बृहस्पति लोक ३८७

बैराट ६९

ब्रह्म ६८

ब्रह्म और माया ३२२

ब्रह्म के अवतार ४१३
ब्रह्म के तीन स्वरूप ६९
ब्रह्मांड ६१-७४, ७७-८३, ३१५-३३६
की चैतन्यता ३३७-३३९
के अधिवासी ३३७-३३९, ४१२, ४१५, ४२४, ४२८, ४२९, ४४८
के घटकावयव ३१५-३३६
के छः उप विभाग ६२, ६३, ६५, ३१५-३३६
के छः कँवलों और पिंड के छः चक्रों में अनुरूपता ७४
के नीचे का मैदान ३७२
ब्रह्मांडी मन और इच्छा ६३, ४३४
ब्रह्मांडी मन का देश और उसके छः उप विभाग ६१-७४, ८३
ब्रह्मा ७१, ३३५, ३८५, ३८६

भ

भंडार और धार २१२, २२५, २२९
भंडार और धार के शब्दों का पृथकत्व २१६-२२३
भूत प्रेत—देखिए प्रेतात्माएँ

म

मंत्र १९५-१९७, २१०, २१६, २२२
मंत्र सिद्धि २०२,
मत्था टेकना १८५
मध्यवर्ती अवकाश १७६, २५५, २५६
मन इच्छा—
पिंडी ३८६, ४३४
ब्रह्मांडी ६३, ४३४
मन एक औज़ार है २५, २१९
मन और सुरत का भेद २५
मनाकाश ४९८-५००

मनुष्य—

और मनुष्येतर जाति के जीवों की पृथ्वी पर यात्रा ४२५, ४२७

की बनावट, एक लघु-विश्व ४१९-४२४

की बुद्धि १०८

की मृत्यु ४२८-४३७, ४४१

के अतिरिक्त अन्य अधिवासियों की बनावट ४१०-४१२

के रूप का ध्यान करना, निर्मल चैतन्य स्वरूप का ध्यान नहीं है १०८

के सर्व भावों की झाँई चेहरे पर पड़ती है ६१-७४, ११०, १११

चोला पाने वाले जीवों की मृत्यु क्रिया ४३९-४४०

चोला ही कुल रचना का नमूना है ४२३

में वे सब धारें मौजूद हैं जो बाहर रचना में काम कर रही हैं १९९

शरीर और कुल रचना में परस्पर अनुरूपता और समागम ५३, ७७-८३, ८९, ९१-९३, ४१९-४२०, ४२२

शरीर का रहस्य ८९

शरीर के छः उप विभाग ५६-५८

मनुष्य जीवन—

की चार अवस्थाएँ ४५०-४५५

की चार अवस्थाओं का रचना में सादृश्य ४५६

के मुख्य तीन अंग ५५

मस्तक २६८

मस्तिष्क—

के रंध्र ९२-९३

के व्यापार ८४-९१, ४२२-४२३

महात्मा ११३, ३१९

महा प्रलय ४०७-४०८, ४१८, ४६८, ४८४, ४८७

महा सुन्न और उसके छः उपविभाग ३०७-३०८

माध्यमों या ग़िलाफों को हटा देने से सुरत का शक्ति-सामर्थ्य बढ़ जाता है ४४-४५

मानसरोवर ३२१

मानसिक दुख ११, १५
माया ३२२
मारक प्रभाव वाले मंत्र १९७
मालिक से मालिक को माँगने वाले धन्य हैं १४०
मुहम्मद साहब का चाँद के दो टुकड़े करने का मतलब १५८
मृतात्माएँ २६-२९, ३४, १६८, ३९४-३९५
मृत्यु ४६, ४३४-४३७
का देवता ४३४
का हुक्म ४३४
के समय होने वाली ऐंठन ११६, ४३६
लोक ४३३
मेरु ३२२
मोह निद्रा—देखिए 'लय अवस्था'

य

युग ४५७, ४६१
युति ४०७, ४१४, ४१७-४१८, ४२७, ४६४, ४६७
योगी ११३
योगेश्वर ११३

र

रचना—
का दयामय उद्देश्य ४८१-४९१
का सिद्धांत ४७०
का ज्ञान प्राप्त करने के लिये मानवीय पिंड का अध्ययन ज़रूरी है ५३
की विभिन्नता का मूल ४६९-४८०
के विभिन्न मंडलों से संबंध स्थापित करना ५३, ७७-८३, ८९, ९१-९३, ४१९, ४२२
कैसे हुई ४८२

में बाहर जो धारें काम कर रहीं हैं, वे मनुष्य शरीर में मौजूद हैं १९९
से पूर्व की अवस्था २६१, २६४
राधा—
और स्वामी शब्दों के अनुक्रमण का कारण २२८, २२९
शब्द की व्याख्या २२४, २३९
राधास्वामी—
दयाल का चरण पधारना १६५, १६६
नाम का आश्चर्यजनक प्रभाव २४७
नाम की व्याख्या २२४-२२७, २४५
रामावतार ४५९
राशि ३८८
रासायनिक क्रिया ३६
रूप २४०, २४२, ३४७, ३५०, ३५३
रूहानी—
तरक्की ९६, ९७
शब्द १०३

ल

लय अवस्था ३५, ६९, १३२, २९७, ३९३, ४३१, ४५०
लिंग शरीर २७

व

वक्त गुरू की ज़रूरत १५०, १६९, १७५, १७६, १७९, २०५
वरुण लोक ३८७
वशीकरण १९७
वासनाएँ—
सांसारिक वासनाएँ ही शरीर धारण करने का कारण हैं २८
विराट ६९
विश्व ६९
विष्णु ७१, ४३४
वैयक्तिक क्रिया २८५

वैराट ६९
व्यापक रूप का ध्यान, शुद्ध आध्यात्मिक ध्यान नहीं है १०९

श

शक्ति—
आदि शक्ति, सुरत, ४२-४७
का निम्न स्तर २६३
की अव्यक्त अवस्था २६४-२६५
के साथ २ बड़े घोर शब्द हो रहे हैं १०३
"चैतन्य शक्ति" देखिये
शनि लोक ३८७

शब्द—
उस शक्ति का वाच्य है जिससे कि वह पैदा होता है १०४-१०६
का अभ्यास, सुरत को ऊपर चढ़ाने की निश्चित विधि है ६१-७४
का ज्ञान, दृष्टि के ज्ञान की अपेक्षा सूक्ष्मतर है ३४६, ३५३, ३६३-३६५
की धार २८८-२८९, २९१
के प्रकार १०३

शरीर—
मनुष्य शरीर और कुल रचना में अनुरूपता और समागम ७७-८३
मानवीय शरीर के छः उप विभाग ५६-५८

शाश्वत् ध्रुवीकरण २६७
शिव ७१, ३३५, ३८५, ३८६, ४३४
शेष त्रुटि को दूर किया जाना ३०९, ३१५, ४०१

स

संत ११४
संतों—
और साधों के नाम १६२
को देह त्यागना १६७
के उपदेश सब समान व एक से हैं १६३, १६४

संस्कारों के पुनःस्मृति के नियम ५००
सतगुरु १६३
सतनाम १६३
सतयुग ४५७, ४५८, ४६७
सतसंग १२२, १६४, १७७-१८०, ४९०
सम्मिलित क्रिया २८३, २८५
सम्मोहन—देखिए 'लय अवस्था'
सम्मोहन विद्या १३२
सहस दल कँवल ६८, ३२५, ३३२, ३३३, ४३५
सासांरिक—
रहनी गहनी वग़ैरा का अभ्यास पर असर २५९, २६०
वासनाएँ ही शरीर धारण करने का कारण हैं २८
साध ११३
साधारण अथवा सामान्य चैतन्य का कार्य क्षेत्र १३१
सामान्य चैतन्य १३१
सामीप्य १२३
सामुहिक प्रवाह २८३
सायुज्य १२३
सारूप्य १२३
सालोक्य १२३
सीटी आदि की आवाज़ों की नकल २३०
सीमाबद्ध होने के भाव का निराकरण ५०, २७०-२७१
सुख की परिभाषा २१
सुख-दुःख २
सुन्न ६८
सुमिरन—
का अभ्यास २४८-२५४
के समय गुनावन उठने का कारण २०३
के सिद्धांत की व्याख्या १९८-२०९

सुमेरु ३२२
सुरत
आदि शक्ति है ४२-४७
और मन का भेद २५
का निज भंडार ४८-५०
का स्रोत ५२-५४
की धार २८८-२८९, २९१
के साधारण धर्म व लक्षण ४३
को अपने वजूद के लिए स्थूल देह की मोहताजी नहीं है ३४
को जगाना व बढ़ाना ९६-९७
कोषों या खोलों से छुटकारा पाने पर सुरत की शक्ति बढ़ती जाती है ३५, ४४-४५
शक्ति और प्राकृतिक शक्तियों में द्वन्द ४४१
शक्ति का विकास २३-२४
शक्ति का व्यायाम २३-२४
शक्ति, बग़ैर मन की मदद के अपना कार्य कर सकती है ७५-७६
शक्ति ही आदि अथवा मूल शक्ति है ३०-४०, ४२-४७
सुरतों की उत्पत्ति २८३-२८५
सुषुम्ना ३३८
सूर्य्य ३०२, ३३९, ३८४, ३९०
की किरण ४८०
लोक ११६, ३८७, ३९०, ४४०
शब्द कहने से भिन्न २ लोगों के हृदय में भिन्न २ चित्रण होता है २८४
सूक्ष्म रूप या शरीर २७, ६९, ३९३
सोहं पुरुष ३०८
स्तरों का स्थानान्तरित होना २९८, ३२३, ३३०
स्थूल रूप या शरीर ६९, ३९३

स्पर्श द्वारा पवित्रीकरण का सिद्धांत १८८, १९४
स्वर्ग बैकुन्ठ इत्यादि मांगने वाले मज़दूर हैं १४०
'स्वामी' शब्द की व्याख्या २४४
स्वेदज ३८२
स्त्री पुरुष का भेद २८८, २९९, ३१०-३११, ३४१, ४५०

ह

हंस २९८, ३४१
हंसनियां ३४१
हिपनाटिज़्म ११
हिरण्यगर्भ ६९

त्र

त्रिकुटी ६८, ३२२, ३२४
त्रिविध क्षेत्र परिमाण ३४, ३६, ३७, १०३
त्रिवेणी ३२०
त्रेतायुग ४५७, ४५९

ज्ञ

ज्ञान या बोध किस प्रकार होता है ७८, ७९, ३४२-३५४, ३६८, ४७९
ज्ञानवाह—
कार्य का दृष्टांत ७, ८
कार्य का नियम ९
कार्य की उपमा, तार और बे-तार द्वारा समाचार भेजने की पद्धति १४
धार, ६, ५९, ६०

परिशिष्ट 'प'

कठिन शब्दों के अर्थ

पृष्ठ — शब्द और अर्थ

1. **मनोवृत्ति** = मन का भाव या विचार । **आध्यात्मिक** = रूहानी । **चितवृत्ति** = चित्त की दशा । **अपरिवर्तनवादी** = नियम के बदलने का विरोध करने वाला, परिवर्तन का विरोधी, लकीर का फ़क़ीर ।

2. **उदात्त** = श्रेष्ठ, बड़ा, उदार । **संस्थापक** = स्थापित करने वाला। **अवलोकन** = देखना ।

आभास = पता, संकेत । **अभ्युदय** = उदय, उत्पत्ति । **भावी** = भविष्य में होने वाले । **आगामी** = आगे होने वाले । **उत्सुकता** = आकुल इच्छा । **विभोर** = मगन ।

आमूल = जड़ से । **परिवर्तन** = हेरफेर, बदलना । **संक्षिप्त** = थोड़ा, अल्प । **अपरिचित** = ना-वाक़िफ़ **पथ-प्रदर्शन** = रास्ता दिखलाना, मार्ग बतलाना । **नियमित** = बा-क़ायदा । **वेशभूषा** = पहनने के कपड़े आदि ।

3. **वेतन** = तनख्वाह । **अपेक्षाकृत** = मुकाबले में, मुकाबलतन **हेतु** = लिये, वास्ते । **मामूल** = दस्तूर । **बलवती** = बलवान ।

4. **पेचिश** = आँव खून के दस्त, मरोड़ । **अधिकांश** = ज्यादा हिस्सा । **आला** = ऊँचा, श्रेष्ठ ।

तदनंतर = उसके बाद । **अविलम्ब** = तुरंत, बिना देर के । **सदर** = प्रधान, मुख्य । **अंजाम देना** = पूरा करना । **मुआयना** = देखभाल, जाँच पड़ताल । **व्यवस्थित** = जिसमें कोई नियम या व्यवस्था हो।

पृष्ठ

5. **गूढ़** = गहरे । **तत्व** = सार वस्तु । **निरूपण** = विचार, बखान । **उत्तराधिकारी** = जा-नशीन ।

शोहरत = प्रसिद्धि । **वैज्ञानिक** = विज्ञान या सायंस सम्बन्धी । **अकाट्य** = जिसका खंडन न हो सके । **युक्ति** = तर्क।

स्वास्थ्य = तन्दुरस्ती । **बाध्य** = मजबूर । **विशेष** = खास । **उपस्थित** = हाज़िर । **दंग** = विस्मित, चकित ।

6. **स्थायी रूप से** = मुस्तक़िल तौर पर, पक्के तौर से, हमेशा के लिये। **निधि** = खजाना । **तर्क पूर्ण** = जो दलील से ठीक साबित हो, तर्क सिद्ध ।

प्रतीकजनक = प्रतीत पैदा करने वाले । **सृजन** = सिरजन, रचना, बनाना । **प्रणाली** = रीति ।

7. **निर्माण** = रचना, बनाना । **आधुनिक** = वर्त्तमान । **सृष्टि** = रचना। **मीमांसा** = विचार, निर्णय । **व्यवस्था** = प्रबंध, इन्तज़ाम । **अभिप्राय** = मतलब । **पाश्चात्य** = पश्चिम देश की । **पद्धति** = रीति । **वितर्क** = एक तर्क के उपरांत होने वाला दूसरा तर्क । **अनुकूल** = अनुसार। **अबाधित** = जो तर्क से ठीक हो । **युक्त** = सहित । **प्रतिपादन** = अच्छी तरह समझाना । **मृतप्राय** = मुर्दे के समान । **अंबार** = ढेर ।

बौद्धिक = बुद्धि सम्बन्धी । **तार्किक** = तर्क सम्बन्धी । **समाधान** = तसल्ली । **दत्त चित्त होकर** = खूब जी लगा कर । **अनुशीलन** = मनन, विचार । **जौहर** = तत्व, सार वस्तु । **क़तई** = बिल्कुल ।

8. **ज़ाती** = निजी । **रिश्ता** = सम्बन्ध । **सार्वजनिक** = आम, पब्लिक ।

अनिवार्य = ज़रूरी । **निराला** = सबसे अलग । **हस्तक्षेप** = दस्तंदाज़ी । **सहिष्णु** = सहनशील । **अबाधक** = रुकावट न डालने वाला ।**चरितार्थ** = जो ठीक २ घटे ।

9. **व्यक्तित्व** = शख्सियत ।

उल्लेखनीय = क़ाबिल ज़िक्र । वस्तुतः सचमुच । **उद्देश्य** = मतलब । **मूर्त रूप** = वर्त्तमान रूप, स्पष्ट रूप ।

पृष्ठ

9. **क्रियाशील** = काम करने वाली । **अवस्थित** = मौजूद । **स्कंध** = वृक्ष की पेड़ी या तने का वह भाग जहाँ से ऊपर चल कर डालियाँ निकलती हैं । **आद्य** = प्राथमिक ।

10. **विशाल** = बड़ी । **भव्य** = सुन्दर ।

12. **खद्योत** = जुगनू ।
अविरल = घनी, सघन । **घन** = बादल । **नीर** = पानी ।

13. **कृमिवत्** = कीड़े की तरह । **अतेज** = तेजरहित, प्रभाहीन । **कुत्सित** = नीच, खराब । **रुचे** = अच्छा लगे ।

17. **उद्देश्य** = मतलब । **वैज्ञानिक** = सायँसदाँ । **संकीर्ण** = तंग, क्षुद्र, छोटा । **भावनाओं** = विचारों । **रहस्य** = वह बात जिसका तत्व सहज में समझ में न आ सके । **वाद** = सिद्धांत, बात ।
प्रयोगात्मक रूप से = अमली तरीक़े से । **अभिरुचि** = अत्यंत रुचि। **अनुसंधान** = खोज ।

18. **अनैच्छिक** = बिना इच्छा, ख्वाहिश या इरादे के। **श्रेय** = कल्याण, भलाई । **कारक** = करने वाली । **जनक** = पैदा करने वाली ।
सहयोग = साथ मिल कर काम करना । **हेतु** = कारण । **विश्लेषण** = किसी पदार्थ के संयोजक द्रव्यों को अलग-अलग करना । **लक्ष्य** = निशाना, उद्देश्य । **अनुशीलन** = मनन, विचार ।
बोध = ज्ञान ।

19. **कथित** = कहा हुआ । **प्रकृत** = वास्तविक, असली, जिसमें कोई विकार न हुआ हो ।
परिणत होना = बदलना। **दुरूहता** = कठिनाई, मुश्किल ।

20. **उक्त** = कहा हुआ । **निहित** = स्थापित, रक्खे हुए । **अवधान** = तवज्जह । **न्यूनाधिकता** = घट बढ़, कमीबेशी ।

21. **स्वस्थ** = तन्दुरुस्त ।
आघात = चोट । **हठात्** = ज़बरदस्ती । **निष्कासन** = हटाने या निकालने की क्रिया या भाव ।

पृष्ठ

22. **सम्पर्क** = संयोग ।

प्रतिक्रिया = एक ओर कोई क्रिया होने पर दूसरी ओर उसका परिणाम । **कायिक** = काया संबंधी । **भान** = ज्ञान ।

23. **अंतर्भूत** = शामिल।

सरूर = आनन्द । **सहज** = स्वाभाविक । **प्रमोद** = हर्ष ।

व्यक्त = प्रकट । **सहज** = स्वाभाविक, साथ उत्पन्न होने वाला । **देदीप्यमान** = अत्यंत प्रकाशयुक्त । **जननी** = पैदा करने वाली ।

24. **घनीकरण** = समूह बनाना, सघन बनाना । **परिस्थिति** = अवस्था, हालत । **निर्धारण** = मगन विचार ।

नियमित = बा-क़ायदा । **व्यायाम** = कसरत । **विकास** = फैलाव। **संवर्धन** = बढ़ना ।

25. **भौतिक** = पाँच तत्त्वों का बना हुआ ।

26. **मोहताजी** = अपेक्षा, आवश्यकता । **गैर-मामूली** = असाधारण । **वाक़आत** = घटनायें ।

तसदीक = सही बतलाना या ठहराना । **प्रगति** = आगे बढ़ना ।

लिंग शरीर = वह सूक्ष्म शरीर जो इस स्थूल शरीर के नष्ट होने पर भी संस्कार के कारण कर्मों के फल भोगने के लिए जीवात्मा के साथ लगा रहता है । इसमें ज्ञान इन्द्रियों और कर्म इन्द्रियों की सब वृत्तियां रहती हैं, केवल उनके स्थूल रूप नहीं रहते । इस देह में १७ तत्व माने गए हैं :— १० इन्द्रियां, मन, ५ तन्मात्रा और बुद्धि । **सदृश** = समान ।

27. **तथाकथित** = जैसा कहा गया ।

28. **द्रव्य** = वह जिससे कोई वस्तु बनी हो । **अंतर्निहित** = अंदर रक्खा हुआ । **विशिष्ट** = मिला हुआ, युक्त, खास । **उष्णता** = गर्मी ।

अभ्र = बात । **वजूद** = अस्तित्व । **गुज़र** = पहुँच ।

बर-खिलाफ = इसके विपरीत ।

29. **ताप** = टेम्परेचर । **संशोधन** = सुधार, दुरुस्ती । **वाद** = बात । **भौतिक** = स्थूल । **सार्वलौकिक** = संपूर्ण लोक संबंधी ।

पृष्ठ

29. **स्तर** = तह, सतह । **दैहिक** = देह संबंधी । **स्थगित** = मुल्तवी ।

30. **बरामद होना** = निकलना, प्रकट होना । **फिलहाल** = अभी । **सत्ता** = अस्तित्व । **लोप** = गुप्त ।

सर्वथा = बिल्कुल । **विद्युत** = बिजली । **प्रतिज्ञा** = वह बात या कथन जिसे सिद्ध करना हो ।

31. **अपरिहार्य** = लाज़मी, ज़रूरी । **निष्कर्ष** = नतीजा । **सर्वत्र** = सब जगह । **सीमित** = महदूद । **विश्व** = रचना । **गोचर** = जिसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा हो सके । **अपरिलक्षित** = बिना समझा या जाना हुआ ।

घटक = द्रव्य, वह जिससे कोई वस्तु बनी हो। **साम्य** = समानता ।

विकार = किसी पदार्थ के रूप आदि का बदला जाना, परिणाम, जैसे—कंकण सोने का विकार है क्योंकि वह सोने से ही रूपान्तरित होकर बना है । **परिवर्तन** = तबदीली । **विघटित** = जो तोड़-फोड़ डाला गया हो ।

32. **विघटन** = तोड़ने फोड़ने की क्रिया ।

प्रादुर्भाव = प्रकट होना, उत्पत्ति। **परमाणविक** = परमाणु संबंधी । निर्भर = मुनहसिर ।

विभाजन = विभाग करने की क्रिया । **आद्य** = सबसे पहली, प्रथम, आरम्भ की ।

33. **निष्क्रिय** = निश्चेष्ट, सब प्रकार की क्रियाओं से रहित । **धर्म** = स्वभाव, नित्य नियम, जैसे—आंख का धर्म देखना है । **रक्षपाल** = वह जो रक्षा करता हो, रक्षक । **विलग** = अलग । **व्यापार** = कार्य ।

जातीय = निज का । **पर्याप्त** = काफी ।

उत्तरोत्तर = लगातार । **समर्थन** = पुष्टी, दृढ़ीकरण ।

35. **संघट्ट** = संयोग, सम्मिलन, मेल मिलाप, सम्बन्ध, सम्पर्क । **अपरिवर्तनशील** = जिसमें कोई रद्दोबदल नहीं हो सकता । **प्रज्ञा** = बुद्धि, ज्ञान । **काल्पनिक** = कल्पित, ख्याली । **चित्रण** = चित्र खींचना ।

पृष्ठ

35. **तेजोमय** = बहुत क्रांति, प्रभा या ज्योति वाला । **ऐश्वर्यशाली** = वैभववान, संपत्तिवान। **प्रतिमा** = दिमाग के अक्स । **अवली** = झुंड । **विशुद्ध** = स्पष्ट, सुन्दर । **उत्कृष्ट** = श्रेष्ठ, अच्छा । **उल्लास** = हर्ष, आनन्द । **अचिन्त्य** = जिसका अन्दाज़ा न हो सके, आशा से अधिक । **अधिवासी** = निवासी ।

36. **विमर्श** = परीक्षा, अनुसंधान, परामर्श । **मुक़ीम** = ठहरी हुई । **साध्यता** = पूरा हो सकने की योग्यता ।

37. **अवरोध** = रुकावट । **क्वचित** = शायद ही कोई, बहुत कम । **व्यवस्था** = प्रबंध, इन्तज़ाम ।

38. **वाह्य** = बाहरी । **अतीव** = अधिक, बहुत । **यंत्र** = औज़ार । **उपकरण** = साधक वस्तु, सामान, सामग्री । **स्तर** = सतह, तह, परत। **अमली** = कार्य रूप में, व्यवहारिक ।

मानव = मनुष्य । **उत्तेजना** = प्रेरणा, प्रोत्साहन वेगों को तीव्र करने की क्रिया । **केन्द्रीभूत** = केन्द्र में स्थित करना या होना ।

39. **मानवीय** = मनुष्य संबंधी । **उप-विभाग** = छोटे विभाग । **लघु** = छोटा । **विश्व** = जगत, रचना । **सरल** = सीधी । **आंत्र** = आंत । **सरलांत्र** = बड़ी आंत का अंतिम छोर जो गुदा में मिला होता है । **नियमित** = बा-क़ायदा, क़ायदे या नियम में बाँधना । **उरोस्थि** = गरदन से पेट तक की हड्डी, छाती के नीचे बीचों बीच की वह छोटी हड्डी जिस पर सबसे नीचे की दोनों पसलियां मिलती हैं । **संवेदन** = क्लेश, आनन्द, शीत, ताप आदि मालूम करना या होना । **श्वसन** = सांस लेना ।

40. **निर्दिष्ट** = निश्चित किया हुआ, ठहराया हुआ । **क्रमशः** = क्रम से, सिलसिलेवार, धीरे-धीरे, थोड़ा-थोड़ा करके । **संस्कार** = इन्द्रियों के विषयों के ग्रहण से मन में उत्पन्न प्रभाव । **आत्मीकरण** = अपने में मिला लेना, शरीर का अंग बनाना ।

41. **सम्पन्न** = भरा हुआ । **तंतु** = रस्सी । **वाहन** = सवारी । **अपरिहार्य** = लाज़मी, ज़रूरी । **व्यापार** = कार्य । **पात** = मृत्यु, नाश ।

पृष्ठ

41. प्रतिक्रिया = एक क्रिया के फलस्वरूप दूसरी क्रिया । **गति** = चलना । **विसर्जन** = परित्याग, छोड़ना । **नियमन** = कायदा बाँधना, शासन । **प्रच्छन्न** = गुप्त, अप्रकट पर सोया हुआ । **यावत्** = जहाँ तक, जितना, जो कुछ ।

42. **स्तब्ध** = निश्चेष्ट, सुन्न, खामोश । **प्रदाता** = देने वाली । **प्रवर्तक** = संचालक, चलाने वाली । **विशिष्ट** = खास । **प्रणाली** = रीति, नाली । **प्रतिज्ञा** = उस बात का कथन जिसे सिद्ध करना हो । **आवेग** = चित्त की प्रबल वृत्ति, जोश ।

43. **पतन** = नाश, मृत्यु । **सहयोग** = संग, साथ । **विरोधाभास** = विरोध दिखलाई पड़ना, ज़िद्दैन मालूम होना । **बिलगाव** = अलग होना ।

44. **युगपत्** = साथ-साथ ।

45. **व्यक्त** = प्रकट । **अव्यक्त** = अप्रकट । **अनुरूप** = अनुसार । **संपर्क** = सम्बन्ध । **प्रतिरूप** = तसवीर, मूर्ति, प्रतिनिधि । **सृजन** = बनाना, रचना । सन्तुलन = एतदाल ।

46. **यौगिक** = मिले हुए, कम्पाउंड । **पुनर्गठन** = फिर से मिलना । **अनुरूपता** = समानता, सादृश्य ।

47. **दृष्टिकोण** = नुक्ते निगाह । **वसीला** = जरिया, द्वारा सहायता । **निष्कर्ष** = नतीजा । **विशुद्ध** = शुद्ध, खालिस । **प्रतिच्छाया** = छाया । **प्रतिलक्षित** = दिखलाई देना । **विच्छेद** = अलग करने की क्रिया ।

48. **संघट्ट** = संयोग, सम्मिलन, मेल मिलाप, सम्बन्ध, सम्पर्क । **समागम** = मिलन, मिलना । **लघु** = छोटा । **विश्व** = वेदमतानुसार ब्रह्मांड तक की रचना और हमारे मतानुसार कुल रचना। **वृहत्** = बड़ा । **व्याप्त** = फैली हुई । **उपादान** = वह कारण जो स्वयं कार्य रूप में बदल जाय, सामग्री जिससे कोई वस्तु तैयार हो, जैसे—घड़े का उपादान कारण मिट्टी है । **दैहिक** = देह सम्बन्धी । **चर्म** = चमड़ी । **अस्थि** = हड्डी । **पट्ठा** = मोटी नस, स्नायु । **साधन** = इन्द्रिय ।

पृष्ठ

49. **स्फुर तत्व** = फासफोरस नाम का तत्व जो अपने आप जलता व चमकता है, जुगनू की दमक उसी से बनी है । **एतदर्थ** = इसलिये । **मानव पिंड** = मनुष्य शरीर । **क्षमता** = योग्यता ।

50. **व्यवहार** = जो काम में लाया गया हो । **उपकरण** = साधक वस्तु, सामान, सामग्री । **मस्तिष्क** = दिमाग । **संचालन** = चलाना । **नियंत्रित** = नियम से बँधा हुआ । **उत्कृष्ट** = श्रेष्ठ, अच्छा ।

52. **अगम्य** = जहाँ कोई न जा सके । **आभ्यान्तरिक** = भीतरी । **स्नायु** = शरीर के अंदर की वह वायु वाहनी नाड़ियाँ या नसें जिनसे स्पर्श का ज्ञान होता अथवा वेदना का ज्ञान एक स्थान से दूसरे स्थान या मस्तिष्क आदि तक पहुँचता है, इन्हें वात रज्जु या नाड़ी भी कहते हैं। **संस्थान** = मंडल, समष्टि, योग, जोड़। **आधारभूत** = आधार में ।

53. **अंतरतम** = अंतर के अंतरगत । **प्रदेश** = अवयव, अंग । **आरूढ़** = सवार ।

55. **अखिल विश्व** = कुल रचना । **दिग्दर्शन** = वह जो कुछ उदाहरण स्वरूप दिखलाया जाय, दिखाने का काम । उन्नत = ऊँचा, उठा हुआ। क्रियाशील = काम करने वाली ।

56. **प्रोत्साहन** = उत्तेजित करना । **निष्क्रिय** = निश्चेष्ट ।

57. **निरूपण** = विचार । **वृत्त** = मंडल । **वृत्तांत** = हाल । **अतिक्रमण** = हद के बाहर जाना, बढ़ जाना, उल्लंघन । **परिमाणत्रय** = तीन परिमाणों का गण या वर्ग ।

58. **गण** = समूह, झुंड । **अमित** = बेहद, बहुत अधिक । **अवहेलना** = तिरस्कार, बे-तवज्जही, ध्यान न देना । **वाच्य** = शब्द संकेत द्वारा जिसका बोध हो; जिस शब्द द्वारा बोध होता है, उसे 'वाचक' कहते हैं और जिस वस्तु या अर्थ का बोध होता है, उसे 'वाच्य' कहते हैं ।

59. **मिक़दार** = मात्रा । **आकस्मिकता** = अचानक होने की क्रिया या भाव । **तारतम्य** = घटाव बढ़ाव, एक दूसरे से कमीबेशी का हिसाब। **अनुसरण** = पीछे या साथ-साथ चलना । **मनोगत** = जो

पृष्ठ

59. मन में हो। **प्रेमाद्र** = प्रेम में सनी हुई। **सिंहनाद** = लड़ाई में वीरों की ललकार। **सूच्चारित** = सु-उच्चारित।

60. **विस्फोट** = फूट पड़ना। **वाह्य** = बाहर। **परिधि** = घेरा।

61. **कल्पना** = ख्याल। **वशीभूत** = आधीन, ताबे। **बोधार्थ** = समझाने के लिये। **विषयाँतर** = दूसरा विषय।

62. **इंगित** = इशारा। **मुखमुद्रा** = मुख की आकृति या चेष्टा। **जनित** = पैदा हुए।

63. **संक्षोभ** = खलबली, व्याकुलता, भय, रंज, क्रोध। **उद्‌गार** = उबाल, उफान।

64. **भाँज** = ऐंठन, मोड़, बल, घुमाव, बटना। **जलवा** = शोभा, रूप की शोभा, झलक, प्रकाश।

65. **निर्देश** = किसी पदार्थ को बतलाना, आज्ञा। **नूरानी** = प्रकाश-वान। **वृहत्** = बड़ा। **अंश** = हिस्सा। **रहनुमाई** = पथ प्रदर्शन। **अनिवार्य** = ज़रूरी।

66. **विपुल** = बड़ा। **परिचालन** = चलाना, गति देना।

67. **असामान्य** = असाधारण, गैर-मामूली। **रूप रेखा** = खाका, नक्शा। **पराभव** = हार, तिरस्कार, विनाश। **बारहा** = कई बार, बहुत दफा, प्रायः। **विचाराधीन** = जिसका विचार किया जा रहा है। **समस्या** = प्रश्न, सवाल। **समाधान** = हल, तसल्ली।

68. **अवगत** = जाना हुआ, ज्ञात। **सीमित** = महदूद, जिसकी हद बँधी हो।

69. **रहस्य** = भेद। **उद्‌घाटन** = खोलना। **अग्रसर करना** = आगे बढ़ाना। **भौतिक** = पाँच तत्त्व सम्बन्धी, शारीरिक, स्थूल। **शमन** = शांत, दमन।

70. **स्वेच्छाचारिता** = जो जी में आवे वही करना।

71. **अंतर्वर्ती** = अन्दर रहने वाली। **अमल** = प्रयोग।

72. **आगंतुक** = जो इधर-उधर से घूमता फिरता आ जाय। **परोक्ष** = अप्रत्यक्ष।

पृष्ठ

73. **क्षमता** = योग्यता । **देवदूत** = पैगम्बर, मनुष्यों के पास ईश्वर का संदेसा लेकर आने वाला ।

74. **असंगत** = बे-ठीक, ना-मुनासिब । **सीमित** = हद वाला । **असीम** = बेहद । **अपरिमित** = बेहद । **अल्प** = छोटा । **माप** = नाप । **युक्त** = वाला । **पंजर** = पिंजड़ा, शरीर । **सम्पर्क** = सम्बन्ध । **मातहत** = आधीन, अधिकृत । **विशिष्ट** = खास । **पूर्ववत्** = पहले की तरह । **तुंग** = ऊँची, प्रचंड । **तरंगों** = लहरों ।

75. **अमित** = बहुत अधिक । **अनाश्रित** = बे-सहारे, अनियमित, क्रमहीन, ऊटपटाँग । **अभिप्रेत** = अभिलाषित, वांछित । **विदारक** = फाड़ डालने वाला । **मसलहत** = ऐसी गुप्त युक्ति या भलाई जो सहसा जानी न जा सके, अप्रकट शुभ हेतु । **विपरीतता** = ज़िद्दैन । **प्रतिभावान** = बुद्धिमान । यंत्र = औजार । **उपकरण** = साधक वस्तु, सामग्री । **यंत्रणा** = तकलीफ, दर्द, पीड़ा । **ललित कलाएँ** = संगीत, चित्रकला, वास्तु कला आदि ।

76. **आख्यान** = कथा, कहानी । **संदर्भ** = रचना, लेख । **विधि विधान** = नियम । **संघर्ष** = रगड़, घिस्सा । **राष्ट्र** = देश । **उत्थान** = उठना । **पतन** = गिरना । **सम्पन्न** = भरे हुए । **तथ्य** = सच्चाई, यथार्थता ।

78. **उद्भव** = उत्पत्ति ।

79. **विद्युत्** = बिजली । **द्रव** = तरल, पानी की तरह पतला । **स्निग्ध** = जिसमें स्नेह या तेल हो । **स्निग्धता** = चिकनापन । **गुरुत्व** = भारीपन । **तदनंतर** = उसके पीछे । **संघर्षण** = रगड़, घिसना । **खंड** = टुकड़े । **स्वच्छंदता** = स्वतन्त्रता ।

80. **विवेक शून्य** = ज्ञान से खाली । **उपहासयुक्त** = हँसी की । **अनभिज्ञ** = अनजान, ना-वाक़िफ़ ।

81. **पुनरुद्धार** = पुनः + उद्धार । **ज्ञेय** = जिसका ज्ञान किया जाय । **निसबत** = विषय में । **क्वचित** = कभी-कभी । **आला** = ऊँची । **आंशिक** = कुछ अंश में ।

पृष्ठ

83. **चिरंतन** = पुरानी, बहुत दिनों की । **सनातन** = नित्य, शाश्वत।

84. **अगम्य** = जिसमें बुद्धि न पहुँच सके । **अध्यक्षता** = देख-रेख । **प्रवचन** = अच्छी तरह समझा कर कहना, अर्थ खोल कर कहना । **आगमन (तर्क)** = सामान्य उदाहरणों से विशेष नियम निकालना । **निगमन (तर्क)** = विशेष नियम का सामान्य नियमों में प्रयोग करना। **तर्क** = दलील । **वितर्क** = एक तर्क के उपरांत होने वाला दूसरा तर्क ।

85. **नियोजन** = तैनात या मुक़र्रर करना । **क्रियावान** = कारकुन । **आदान-प्रदान** = लेना देना । **नैपुण्य** = निपुणता । **अनभिज्ञ** = अपरिचित, ना-वाक़िफ़ ।

86. **आनन्दोद्रेक** = आनंद की वृद्धि ।

87. **लक्ष्य** = निशाना । **अग्रसर होना** = आगे बढ़ना । **अन्यथा** = नहीं तो । **प्रगति** = चाल, तरक्की । **मध्यवर्ती** = बीच का । **अवकाश** = समय । **मध्यवर्ती अवकाश** = इन्टरेगनम ।

88. **तत्वावधान** = देख-देख । **अप्रासंगिक** = बे-मौक़ा ।

89. **युक्ति संगत** = उपयुक्त तर्क के अनुकूल, ठीक । **प्रणाली** = रीति।

90. **प्रशांत** = स्थिर, शांत । **दुर्लक्ष्य** = अति कठिनाई से दिखाई पड़ना या समझ सकना । **वातावरण** = वायुमंडल । **हर्षोत्कर्ष** = हर्ष की वृद्धि । **विभोर** = मगन । **वितरण** = बाँटना । **खाद्य पदार्थ** = खाने की चीज़ ।

91. **आयोजन** = प्रबन्ध । **सफल संपादित होने पर** = कामियाबी होने पर । **अभिवादन** = बँदगी ।

92. **रज़ा** = मर्जी, हुक्म । **राजी** = खुशी । **शराबखोर** = लथपथ, तरबतर । **जनित** = पैदा हुआ, भया । **अंतर्निहित** = अंतर में रक्खी हुई ।

93. **तत्काल** = उसी समय । **विशिष्टता** = खासियत । **बैजिक** = बीज सम्बन्धी, बीज रूप में । **भौतिक** = स्थूल, शरीर सम्बन्धी ।

पृष्ठ

94. **असंगत** = बे ठीक। **वैद्युत** = बिजली का, बिजली संबंधी । **सम्पर्क** = संबंध । **संपृक्त** = सम्पर्क में आया हुआ । **मात्रा** = मिक़दार। **सादृश्य** = समानता ।

95. **नियंत्रण** = नियम आदि में बाँधना या उसके अनुसार चलाना ।

96. **स्पंदन** = Vibration हिलना, कांपना, फड़कना । **द्विशाखा** = चिमटा ।

97. **कारगर** = प्रभावशाली, लाभकारी । **अल्पाधिक** = थोड़ी बहुत ।

99. **निरूपण** = किसी बात का ठीक-ठीक और विस्तार के साथ ज्ञान या लखाव कराना । **अभीष्ट** = वाँछित । **निष्क्रिय** = निश्चेष्ट । **प्रच्छन** = अप्रकट पर सोया हुआ । **संक्षोभ** = कंपन ।

100. **उत्थान** = उठना । **अव्यक्त** = अप्रकट । **व्यक्त** = प्रकट । **क्रिया विरत** = क्रियाहीन । **केन्द्राभिमुखी** = केन्द्र के सामने मुख किए हुए। **विरोधाभास** = विरोध दिखाई पड़ना ।

101. **आधारभूत** = आधार में । **लक्षित** = बतलाया हुआ, अनुमान से समझा या जाना हुआ ।

102. **संदेशवाहक** = संदेश लाने वाले ।

103. **घटक** = उपादान, द्रव्य, वह जिससे कोई वस्तु बनी हो । **परिवृत** = ढँका, छिपा या घिरा हुआ ।

104. **अनुक्रमण** = क्रम, सिलसिला । **अनियम** = क्रम में होने वाला उलट फेर । **रुख** = दिशा । **जानिब** = ओर, तरफ़ । **व्यतिक्रम** = क्रम या सिलसिले का उलटा ।

105. **पवन प्रचालित बाजा** = फूँक से बजाया जाने वाला बाजा । **स्तंभ** = थम्भा । **मूल** = जड़ । **अन्त्य** = आखिरी ।

106. **मुखाकृति** = मुँह की शक्ल । **उदासीन** = निष्पेक्ष, तटस्थ, रूखा। **संग्रहीत होना** = इकट्ठे होना ।

107. **दोलायमान** = हिलती हुई । **ताँता बँधना** = एक के पीछे एक का मिला हुआ बराबर चलना या आना । **वाचा** = वाणी । **मुहीते कुल** = सबको घेरे हुए ।

पृष्ठ

108. **परिवेष्टित** = चारों ओर से घेरे हुए या ढँके हुए । **क्रम** = वस्तुओं या कार्यों के परस्पर आगे पीछे होने का विधान या नियम, सिलसिला, तरतीब । **व्यवस्था** = प्रबंध, इंतजाम, वस्तुओं को सजा कर यथा स्थान रखना । **आरोप** = स्थापित करना, लगाना, मढ़ना । **असंगत** = बे-ठीक, ना-मुनासिब । **अंडाकार** = अंडे की शक्ल का, बैज़ाबी ।

109. **प्रयास** = प्रयत्न । **मौलिक** = मूल संबंधी, मूल । **अमली** = कार्य रूप में ।

110. **हवाला** = प्रमाण का उल्लेख । **व्याख्या** = किसी बात को समझाने के लिये किया हुआ उसका विस्तृत और स्पष्ट अर्थ ।

111. **कारगर** = प्रभावशाली । **हठात्** = ज़बरदस्ती ।

112. **मुल्तवी** = जो कुछ समय के लिये रोक या टाल दिया गया हो, स्थगित । **लवाज़मा** = साथ में रहने वाली आवश्यक सामग्री, किसी के साथ रहने वाला दल बल और साज सामान, रीति रस्म ।

113. **शपथ** = कसम, सौगंध ।

114. **प्रादुर्भाव** = उत्पत्ति, प्रकट होना । **व्यवस्था** = प्रबंध, इंतजाम । **अभिप्राय** = मतलब । **विध्वंस** = विनाश । **द्रव्य** = वस्तु, पदार्थ, माद्दा । **विकृति** = विकार, खराबी, बिगड़ना, परिवर्तन । **निम्न** = नीचे की । **स्तर** = तह, सतह, परत । **प्रतिज्ञा** = वह बात जिसे सिद्ध करना हो । **असंदिग्ध** = संदेह रहित। **विशेष** = खास । **प्रतिबंधक** = मनै करने या रोकने वाला, विघ्न बाधा डालने वाला ।

115. **सीमांत** = वह स्थान जहाँ तक हद पहुँचती हो । **केन्द्राभिमुखी** = केन्द्र के सामने मुख किए हुए । **रिक्त** = खाली । **अव्यक्त** = अप्रकट । **विभेदन** = भेद या फर्क । **क्षमता** = योग्यता । **आद्य** = पहली, प्रथम ।

116. **शाश्वत्** = नित्य, चिरस्थायी, दवामी, हमेशा का । **निम्न ध्रुव** = नीचे का ध्रुव । **विभाजन** = विभाग करने की क्रिया या भाव । **विचक्षण** = हर प्रकार से प्रवीण या जानकार । **सघन** = घना, गुंजान। **विरल** = जो घना न हो ।

पृष्ठ

117. **साहचर्य** = साथ रहने का भाव, संग, साथ । **मेघखंड** = बादल का टुकड़ा । **विभ्राजमान** = अत्यन्त प्रकाशवान । **प्रकाशपुंज** = प्रकाश का समूह । **अनिर्वचनीय** = जिसका वर्णन न हो सके, अकथनीय । **विद्युत्सम** = बिजली के समान । **परिणत करना** = बदलना । **प्रतिरोध** = रुकावट ।

118. **शुभ्रता** = उज्जवलता । **आदिम** = प्रथमोत्पन्न, पहले का, पहला प्राथमिक ।

119. **आलोक** = प्रकाश । **धूमिल** = धुँधला। **सर्वोजित** = सबसे बढ़ा चढ़ा । **संस्कार** = नक़्श । **नक़्श** = संस्कार ।

120. **आगमन तर्क** = सामान्य उदाहरणों से विशेष नियम निकालना ।

121. **आत्यंतिक** = अधिक, बहुतायत से होने वाला । **भव्य** = देखने में भारी और सुन्दर, शानदार । **क्रमानुक्रम** = एक क्रम के बाद दूसरा क्रम। इस ध्रुव में क्रमानुक्रम था = इस ध्रुव में स्तरों का श्रेणी क्रम था अर्थात् यह ध्रुव स्तर-श्रेणी-क्रम में विभाजित था । **अवस्थित** = मौजूद, विद्यमान । **संसर्ग** = सम्बन्ध, मेल । **जागरूक** = वह जो जाग्रत अवस्था में हो ।

122. **नगण्य** = तुच्छ, बहुत ही साधारण या गया बीता । **भ्रामक** = भ्रम में डालने वाला । **पिंड** = गोला, गोल टुकड़ा । **वैयक्तिक** = व्यक्तिगत । **वेष्टन** = वह कपड़ा आदि जिससे कोई चीज लपेटी जाय, बेठन ।

123. **अविच्छिन्न** = अटूट, लगातार । **सनातन** = अत्यन्त प्राचीन, नित्य । **विषमता** = असमानता, कम और ज्यादा होने का भाव ।

124. **संलग्न** = संबद्ध, लगा हुआ, सटा या मिला हुआ । **पर्यवेषण** = देख रेख । **विशिष्ट** = खास । **संचय** = एकत्र या संचय करना, जमा करना । शरीर को रचने वाला मुख्य घटक द्रव्य या अंश । कारबन, रसायन शास्त्र के अनुसार कारबन तत्व जो सृष्टि में दो रूपों में मिलता है, एक हीरे के रूप में, दूसरा कोयले के रूप में। **कर्ब-द्विओषिद वायु** = कारबन डाइ ऑक्साइड गैस, कारबोनिक एसिड गैस ।

पृष्ठ

126. **चिरंतन** = पुरानी, बहुत दिनों की । **श्रम** = परिश्रम, मेहनत । **भौतिक शरीर** = स्थूल शरीर, पाँच तत्वों से बना हुआ शरीर । **रक्ताभिसरण क्रिया** = खून का दौरा । **भुवर्लोक** = पृथ्वी और स्वर्ग के बीच का लोक । तीन लोकों के नाम यह हैं :— भूर्भुवःस्वः । **भूत** = युक्त, मिला हुआ, समान, सदृश, बीता हुआ, जो हो चुका हो, हो चुका हुआ । **स्थानान्तरित** = जो एक स्थान से हट या उठ कर दूसरे स्थान पर गया हो, जो एक जगह से दूसरी जगह पर भेजा या पहुँचाया गया हो।

127. **समष्टि** = सब का समूह, कुल एक साथ । **अवस्थान** = स्थान । **तात्विकता** = तत्व संबंधी । **सघन-विरल** = न्यूनाधिक ।

128. **प्रत्युत** = वरन्, बल्कि, इसके विपरीत । **बिंब** = सूर्य व चंद्रमा का मंडल, कोई मंडल । **विकीर्ण होती है** = फैलती है ।

129. **पारावार** = समुद्र ।

130. **विश्रांति** = विश्राम, आराम । **सार्वकालिक** = जो सब कालों या समयों में होता हो, सब समयों का ।
त्रुटि = कमी, कसर। **प्रजनन** = संतान उत्पन्न करने का कार्य ।

131. **दाम्पत्य** = पति पत्नी संबंधी, स्त्री पुरुष का सा । **प्रतिरोध** = मुखालफ़त ।

132. **घटक** = वह जिससे कोई वस्तु बनी हो । **अवयव** = अंश, भाग, हिस्सा, अंग । **घटकावयव** = घटक + अवयव, जुज़, हिस्सा, टुकड़ा, अन्सर, मूल तत्व, बनाने वाला । **निगमन** = निकलना ।

133. **संचय** = एकत्र या संग्रह करना, जमा करना । **शृंग** = शिखर, चोटी। **छिन्न-भिन्न** = तितर बितर । **कोष** = आवरण, खोल । **रज** = धूल। **धूम** = धुआँ, बादल ।

135. **तदनन्तर** = उसके बाद । **अनुपयुक्त** = बे-ठीक ।

136. **प्रणालियां** = नलियाँ । **धमनियाँ** = शुद्ध रक्तवाहिनी नलिकाएँ, नाड़ियाँ ।

137. **उद्गम स्थान** = निकलने का स्थान । **निष्क्रमण** = बाहर निकलना।

पृष्ठ

138. **विश्लेषण** = प्रथक्करण । **समुदाय** = समूह, झुंड, ढेर ।

139. **विभिन्न** = अलग-अलग । **स्तर** = तह, परत, तबक़ । **वहन** = घसीट या अपने ऊपर लाद कर किसी वस्तु को कहीं से कहीं ले जाना। **द्युति** = चमक । **विघटन** = तोड़ना फोड़ना, नष्ट करना ।

140. **विषयान्तर करना** = एक विषय को छोड़कर दूसरा विषय उठाना।

142. **द्रव** = पतला, तरल, पानी सा । **सतत्** = सदा, निरन्तर । **भौतिक** = स्थूल । **यंत्र** = औज़ार । **विलोम** = विपरीत, उलटी ।

143. **प्रतिक्रिया** = एक क्रिया के फलस्वरूप दूसरी क्रिया । **पार्थवीय** = पृथ्वी संबंधी । **कारकुन** = क्रियाशील । **एवं** = ऐसे ही , इसी प्रकार की ।

144. **कक्षा** = ग्रह के भ्रमण करने का मार्ग । **उत्तरोक्त** = बाद में कहा हुआ, जिसका ज़िक्र बाद में आया हो ।

145. **साम्य** = समानता, तुल्यता । **उद्गम** = उत्पत्ति का स्थान । **कक्षीय** = कक्षा संबंधी । **विलीनता** = घुल जाना । **सौर्य** = सूर्य संबंधी , सर्य का ।

147. **तारक मंडल** = तारा मंडल ।

148. **वरुण** = पानी के स्वामी, नेपचून ग्रह । **शृखंला** = जंजीर ।

151. **यत्किंचित** = थोड़ा, कुछ । **सुदूर** = बहुत दूर, अति दूर । **आभास** = पता, संकेत, झलक । **क्षुद्र** = छोटी । **निम्नातिनिम्न** = नीचे से नीचे। **स्वल्प** = बहुत थोड़ा । **किंचित** = थोड़ी । **विशद** = स्पष्ट, सुन्दर।

152. **सर्व सामान्य** = सर्व साधारण, आम । **व्यवस्था** = इंतज़ाम ।

153. **यथोचित** = मुनासिब, ठीक । पुनः उपरांत, पीछे, अनन्तर । **हितावह** = हितकारी ।

154. **युति** = योग, मिलन, मिलाप ।

159. **सुप्त** = सोई हुई, मुँदी हुई । **स्वयं प्रवृत्त कार्य** = वह कार्य जो अपने आप जारी हो जायँ, किसी को जारी न करने पड़ें । **संमिश्रण** = मिलावट ।

पृष्ठ

162. **प्रसव** = बच्चा पैदा करना, जनना । **सकता** = एक प्रकार का मूर्च्छा रोग ।

163. **उपयुक्त** = योग्य, ठीक । **संज्ञक** = नाम वाला, नामी ।

164. **निष्प्रयोजनीय** = व्यर्थ, बे-मतलब । **सुचारु** = अत्यंत सुन्दर । **नियन्ता** = नियम बाँधने वाला, व्यवस्था करने वाला ।

165. **यथावत्** = ज्यों का त्यों, पूर्ण रीति से ।

166. **अकर्मण्य** = कुछ काम न करने वाला ।

167. **द्वंद** = दो आदमियों की परस्पर लड़ाई, झगड़ा ।

168. **उन्मूलन** = जड़ से उखाड़ना, समूल नष्ट करना ।

169. **गवेषणा** = खोज । **वैयक्तिक** = व्यक्तिगत । **वयस्क** = जो अब बालक न हो, सयाना, बालिग़ ।

170. **लय** = मूर्च्छा, बेहोशी । **मोह निद्रा** = बेसुध या बेहोश होकर पड़े रहना । **महसूस** = मालूम ।

171. **विफल** = असफल, निष्फल । संतुलित अवस्था = एतदाल की हालत ।

172. **तर्क असंगत** = तर्क से खाली ।

173. **मनोरम** = सुन्दर, मनोहर । **बाहुल्य** = अधिकता । **रेल पेल** = भरमार, भीड़भाड़, अधिकता । **अनायास** = अचानक, अकस्मात । **उपचय** = वृद्धि, बढ़ती, जमा करना । **कलुष** = मलिनता, पाप ।

174. **खौफनाक** = भयंकर । प्रचुरता = ज़्यादती, अधिकता । **शोषण** = सोखना, सुखाना । **आतंक** = भय, डर । **आकुंचन** = सिकुड़ना ।

175. **मृदु** = नरम, मुलायम, धीमा, मंद । **भाजन** = पात्र । **ना-पायदारी** = नाशमानता । **ज़ेर-असर** = प्रभावित होना । **प्रच्छन्न** = गुप्त ।

176. **विभिन्न** = अनेक प्रकार का ।

178. **ब-ज़ाते-खुद** = स्वयं । **बा-होश** = होश के साथ । **अत्यल्प** = बहुत थोड़ा । **निषेध** = वर्जन, मनाई, न करने का आदेश । **निराकरण** = अलग करना, दूर करना, हटाना, मिटाना । **मुख़्तलिफ़** = भिन्न-भिन्न । **विहीनता** = न होना । **न्यूनता** = कमी ।

पृष्ठ

179. **प्रसारित** = फैलाई हुई ।

180. **विकीर्ण होना** = बिखरना, फैलना । **सर्वग्राही** = सबको अपने में जज़्ब कर लेने वाला । **अर्णव** = समुद्र । **अस्पृष्ट** = न छुआ हुआ। **सत्व** = सार, चैतन्य । **हम-ज़ात** = सजातीय ।

181. **कल्पनातीत** = जिसकी कल्पना न हो सके। **भाजन** = पात्र, योग्य । **प्रायेण** = ज़्यादातर । **अचिंत्य** = जिसका अन्दाजा न हो सके, आशा से अधिक । **आंशिक** = कुछ, थोड़ा, रंचक ।

182. **अनति** = अन + अति, कम, थोड़ा । **अनति काल में** = बहुत समय नहीं लगेगा ।

अभिव्यक्त = व्यक्त, प्रकट । **बलात्** = जबरदस्ती । **हृदयंगम** = मन में आया हुआ, समझ में आया हुआ । **संलाप** = परस्पर की वार्तालाप । **तात्कालिक** = उसी समय का ।

183. **विरल** = कम ।

184. **विस्तार त्रय** = लम्बाई चौड़ाई ऊँचाई का त्रिविध विस्तार ।

185. **घटित** = लागू । **विधान** = नियम, रीति, प्रबंध । **पुंज** = समूह । **निर्मित** = बना हुआ । **निदान** = अंत में । **विशिष्ट** = खास ।

186. **पुरस्कार** = इनाम । **अनुद्योग** = उद्योग रहित । **अदूरदर्शिता** = ना-समझी । **द्योतक** = सूचक, बतलाने वाले । **अतीव** = बहुत । **निंद्य** = खोटी, बुरी, दूषित । **दूरदर्शिता** = दूर-अंदेशी । **अभिज्ञ** = जानकार, वाकिफ़ । **अपरंच** = और भी, फिर भी, पुनः । **प्रभावांतर्गत** = प्रभाव के अंदर, ज़ेर-असर । **नितांत** = बहुत अधिक, सर्वथा । **वातावरण** = परिस्थिति ।

187. **परिस्थिति** = अवस्था, हालत । **तज्जनित** = उससे उत्पन्न हुई, भई। **उपलब्धि** = ज्ञान या अनुभव प्राप्ति । **निःसत्व** = सार या तत्व रहित । **ऐबरक्रूम्बी** = डॉक्टर जॉहन ऐबरक्रूम्बी एम. डी. स्कॉटलैंड के रहने वाले थे । इनका जन्म सन् १७८१ में ऐबरडीन नामक स्थान में और मृत्यु एडिनबरा नगर में सन् १८४४ ईसवी में हुई। यह अपने समय के नामी डॉक्टर होने केअतिरिक्त उच्च कोटि के लेखक

पृष्ठ

भी थे। डाक्टरी पर कई एक पुस्तकों के अलावा इन्होंने मस्तिष्क तथा बुद्धि सम्बन्धी शक्तियों और सदाचार तथा नीति सम्बन्धी दार्शनिक विचारों की भी अनेक पुस्तकें लिखी हैं। इनकी पुस्तक Intellectual Powers आगरा कॉलेज की लाइब्रेरी में मौजूद है। क्वीन्स कॉलेज वाराणसी की लाइब्रेरी में भी है। **कर्ण-गोचर होना** = सुनना। **अल्पातिअल्प** = कम से कम।

188. **स्थितिस्थापकत्व** = वह गुण जिसके रहने से कोई वस्तु साधारण स्थिति में आने पर फिर अपनी पूर्व अवस्था को प्राप्त हो जाय, किसी वस्तु को अनुकूल परिस्थिति में फिर उसकी पूर्व अवस्था पर पहुँचाने वाला गुण, जैसे—रबड़ खींचने से बढ़ जाता है अथवा बेंत लचकाने से लचक जाता है और छोड़ देने से फिर इसी गुण के कारण ज्यों का त्यों हो जाता है, लचीलापन। **अभ्यंतर मुख** = भीतर ही भीतर। **आत्म बोध्य** = अपने अन्दर बोध होने योग्य, किसी चीज की जरूरत नहीं होती बल्कि चीज का होना तो बाधक होता है। **मन का चतुर्विधि धर्म** = मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार। **पुरातन** = पुरानी। **अप्रमत्त रूप से** = ठीक तौर से। उपगमन = योग, निकट गमन।

परिशिष्ट क = यह लेख महाराज साहब की आज्ञा से सन् १९०१ ई. में पंजाब प्रांत के जन गणना (सेंसस्) आफीसर के पास भेजा गया था।

परिशिष्ट ख = यह लेख महाराज साहब की आज्ञा से सन् १९०२ ईसवी में उत्तर प्रदेश के जन गणना (सेंसस) आफीसर के पास भेजा गया था।

● ● ●